मूल्य रु. ६.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४४ अंक ६ जून २००६ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
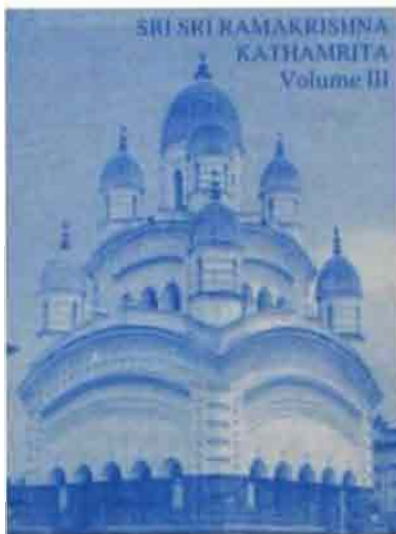
JUST RELEASED

VOLUME III
of
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita

in English

A verbatim translation of the third volume of original Bengali edition. Available as hardbound copy at *Rs. 150.00 each* (plus postage Rs. 30.00). Available online at: *www.kathamrita.org*

HINDI SECTION

- **Sri Sri Ramakrishna Kathamrita** — Vol. I to V — Rs. 300 per set (plus postage Rs. 50)

  M. (Mahendra Nath Gupta), a son of the Lord and disciple, elaborated his diaries in five parts of 'Sri Sri Ramakrishna Kathamrita' in Bengali that were first published by Kathamrita Bhawan, Calcutta in the years 1902, 1905, 1908, 1910 and 1932 respectively. This series is a verbatim translation in Hindi of the same.

- **Sri Ma Darshan** — Vol. I to XVI — Rs. 825 per set (plus postage Rs. 115)

  In this series of sixteen volumes Swami Nityatmananda brings the reader in close touch with the life and teachings of the Ramakrishna family: Thakur, the Holy Mother, Swami Vivekananda, M., Swami Shivananda, Swami Abhedananda and others. The series brings forth elucidation of the Upanishads, the Gita, the Bible, the Holy Quran and other scriptures, by M., in accordance with Sri Ramakrishna's line of thought. **This work is a commentary on the Gospel of Sri Ramakrishna by Gospel's author himself.**

ENGLISH SECTION

Title	Volumes	Price
Sri Sri Ramakrishna Kathamrita	Vol. I to III	Rs. 450.00 for all three volumes (plus postage Rs. 60)
M., the Apostle & the Evangelist (English version of Sri Ma Darshan)	Vol. I to X	Rs. 900.00 per set (plus postage Rs. 100)
Sri Sri RK Kathamrita Centenary Memorial		Rs. 100.00 (plus postage Rs. 35)
Life of M. and Sri Sri Ramakrishna Kathamrita		Rs. 150.00 (plus postage Rs. 35)
A Short Life of M.		Rs. 50.00 (plus postage Rs. 20)

BENGALI SECTION

- **Sri Ma Darshan** — Vol. I to XVI — Rs. 650 per set (plus postage Rs. 115)

All enquiries and payments should be made to:

SRI MA TRUST
579, Sector 18-B, Chandigarh – 160 018 India
Phone: 91-172-272 44 60
email: SriMaTrust@yahoo.com

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २००६

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४४
अंक ६

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४४ जून २००६ अंक ६

वैराग्य-शतकम्

न नटा न विटा न गायका न च सभ्येतरवादचुञ्चवः ।
नृपमीक्षितुमत्र के वयं स्तनभारानमिता न योषितः ।।५६।।

अन्वय – नटाः न, विटाः न, गायकाः न, सभ्य इतर-वाद-चुञ्चवः च न, स्तनभार-नमिता योषितः न; अत्र वयं के नृपम् इक्षितुम्?

अर्थ – हम लोग न तो नट हैं, न विदूषक हैं, न गायक हैं, न सभा में वाद-विवाद करने में कुशल दरबारी हैं और कुचभार से नमित अंगोंवाली सुन्दरी स्त्री भी नहीं हैं। फिर हमारा राजाओं से भला क्या लेना-देना?

विपुलहृदयैरीशैरेतज्जगज्जनितं पुरा विधृतमपरैर्दत्तं चान्यैर्विजित्य तृणं यथा ।
इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते कतिपयपुरस्वाम्ये पुंसां क एष मदज्वरः ।।५७।।

अन्वय – पुरा विपुलहृदयैः ईशैः एतत् जगत् जनितम्, अपरैः विधृतम्, अन्यैः विजित्य तृणं यथा दत्तम्; इह हि अन्ये धीराः चतुर्दश-भुवनानि भुञ्जते; कतिपय-पुर-स्वाम्ये पुंसाम् एषः मद-ज्वरः कः ?

अर्थ – प्राचीन काल में उदार हृदयवाले राजाओं ने इस संसार में साम्राज्य का निर्माण किया। कुछ अन्य राजाओं ने इसका प्रतिपालन किया। कुछ अन्य राजाओं ने इस पर विजय प्राप्त करके आधिपत्य जमाने के बाद इसे तृण के समान तुच्छ समझ कर दूसरों को दान कर दिया। आज भी कुछ अन्य पराक्रमी लोग हैं, जो चौदह भुवनों का पालन करने में समर्थ हैं। इसके बावजूद व्यक्ति कुछ ग्रामों या नगरों पर अधिकार पाकर ही अहंकार से मतवाला क्यों हो जाता है?

अभुक्तायां यस्यां क्षणमपि न जातं नृपशतै-
र्भुवस्तस्या लाभे क इव बहुमानः क्षितिभृताम् ।
तदंशस्याप्यंशे तदवयवलेशेऽपि पतयो
विषादे कर्तव्ये विदधति जड़ाः प्रत्युत मुदम् ।।५८।।

अन्वय – यस्यां नृप-शतैः अभुक्तायां क्षणम् अपि न जातं , तस्या भुवः लाभे क्षिति-भृतां कः इव बहुमानः तत् अंशस्य अपि अंशे तत्-अवयव-लेशे-अपि विषादे कर्तव्ये जड़ाः पतयः प्रत्युत मुदं विदधति ।

अर्थ – जो पृथ्वी सैकड़ों राजाओं द्वारा प्रतिक्षण भोगी जाती रही है, उस पृथ्वी पर आधिपत्य पाकर राजाओं को भला क्या मिल जाता है? एक पृथ्वी के एक अंश के भी अंश के एक अति छोटे-से भूखण्ड पर अधिकार जमाकर वस्तुतः व्यक्ति को शोकग्रस्त होना चाहिए, परन्तु उसकी जगह मूर्ख मनुष्य उसमें आनन्द का अनुभव करता रहता है !

– भर्तृहरि

ईश-वन्दना

– १ –

(वैरागी–कहरवा)

अब तो पल पल, प्रभु-दरशन की आस ।
पूरा होने को आया है, जग का जटिल प्रवास ।।

पंचभूत-मय नश्वर काया, छोड़ रही है झूठी माया,
सारे सुख-दुख लगते रीते, जग से जिया उदास ।।

विषयों के रस-रंग न भाते, छाया-सम आते, मिट जाते,
अवलोकन करता हूँ निश्चल, बीत रहे दिन-मास ।।

ढूँढ़ा उनको सारे त्रिभुवन, यूँ ही बीते अगणित जीवन,
कर डाली सब त्याग-तपस्या, योग-ध्यान-संन्यास ।।

अब न विलम्ब करो प्रभु आओ,
प्रगटो निज मधुहास दिखाओ,
कबसे बैठा हूँ 'विदेह' तव,
जनम-जनम का दास ।।

– २ –

(जैजैवन्ती–कहरवा)

प्रगटो मेरे हृदय-कमल में ।
हे करुणामय, मुझे डुबाओ,
अपने स्नेह-प्रीति के जल में ।।

आया हूँ मैं शरण तुम्हारी, कृपा करो भव-भंजनकारी।
तुम ही एक आस मेरे हो,
अब विश्वास नहीं निज बल में।।

परम सुदृढ़ जग के बन्धन हैं, पल भर को ही सगे-स्वजन हैं ।
समझ चुका हूँ एक बार जब,
अब न पड़ूँगा मैं इस छल में ।।

तुमने 'विश्व' रूप धारा है, तुममें चलता जग सारा है ।
लीन तुम्हीं में फिर हो जाता,
तुम ही व्याप रहे जल-थल में ।।

यूँ ही बीत रहा है जीवन, प्रतिपल क्षय होता है तन-मन,
है 'विदेह' विश्वास हृदय में,
कृपा करोगे अन्तिम पल में ।।

गुरु और शिष्य के लक्षण

स्वामी विवेकानन्द

आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति तो एक आत्मा एक दूसरी आत्मा से ही कर सकती है – अन्य किसी से नहीं। हम भले ही सारा जीवन ग्रन्थों का अध्ययन करते रहें और बड़े बौद्धिक हो जायँ, पर आखिर में हम देखेंगे कि हमारी जरा भी आध्यात्मिक उन्नति नहीं हुई है। यह बात सत्य नहीं कि उच्च स्तर के बौद्धिक विकास के साथ-साथ मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष की भी उतनी ही उन्नति होगी।

यद्यपि प्राय: हम सभी आध्यात्मिक विषयों पर बड़ी पाण्डित्यपूर्ण बातें कर सकते हैं, पर जब उन बातों को क्रियान्वित करने का – यथार्थ आध्यात्मिक जीवन बिताने का समय आता है, तो हम अपने को सर्वथा अयोग्य पाते हैं। जीवात्मा की शक्ति को जाग्रत करने के लिए किसी दूसरी आत्मा से ही शक्ति का संचार होना चाहिए।

जिस व्यक्ति की आत्मा से दूसरी आत्मा में शक्ति का संचार होता है, वह गुरु कहलाता है और जिसकी आत्मा में यह शक्ति संचरित होती है, उसे शिष्य कहते हैं।

'यथार्थ धर्मगुरु में अपूर्व योग्यता होनी चाहिए, और उसके शिष्य को भी कुशल होना चाहिए।' जब दोनों ही अद्‌भुत और असाधारण होते हैं, तभी अद्‌भुत आध्यात्मिक जागृति होती है, अन्यथा नहीं।

तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनाः
अहेतुनान्यान् अपि तारयन्तः ।।

– 'वे इस भीषण भवसागर के उस पार स्वयं भी चले गये हैं और बिना किसी लाभ की आशा किये दूसरों को भी पार करते हैं!' ऐसे ही मनुष्य गुरु हैं, और ध्यान रखो दूसरा कोई गुरु नहीं कहा जा सकता।

प्रकृति का यह एक रहस्यपूर्ण नियम है कि खेत तैयार होते ही बीज मिलता है। ज्योंही आत्मा को धर्म की जरूरत होती है, त्योंही धार्मिक शक्ति देनेवाला कोई-न-कोई आता ही है। खोज करनेवाले पापी की भेंट खोज करनेवाले उद्धारक से हो ही जाती है। जब ग्रहण करनेवाली आत्मा की आकर्षण-शक्ति पूर्ण और परिपक्व हो जाती है, उस समय उस आकर्षण का उत्तर देनेवाली शक्ति आनी ही चाहिए।

सच्चे गुरु वे ही हैं, जिनके द्वारा हमको अपना आध्यात्मिक जन्म प्राप्त हुआ है। वे ही वह साधन हैं, जिसमें से होकर आध्यात्मिक प्रवाह हम लोगों में प्रवाहित होता है। वे ही समग्र आध्यात्मिक जगत् के साथ हम लोगों के संयोग-सूत्र हैं। व्यक्ति-विशेष के ऊपर अति विश्वास करने से दुर्बलता और अन्त:सार-शून्य बहि:पूजा आ सकती है, पर गुरु के प्रति प्रबल अनुराग से उन्नति अत्यन्त शीघ्र सम्भव है। वे हमारे अन्त:स्थित परम गुरु के साथ हमारा योगायोग करा देते हैं। यदि तुम्हारे गुरु के भीतर यथार्थ सत्य है, तो उनकी आराधना करो, यह गुरुभक्ति ही तुम्हें शीघ्र ही चरम अवस्था में पहुँचा देगी।

यदि किसी एक भी जीव में ब्रह्म का विकास हो गया, तो हजारों व्यक्ति उसी ज्योति के मार्ग से आगे बढ़ते हैं। ब्रह्मज्ञ पुरुष ही लोक-गुरु बन सकते हैं – यह बात शास्त्र और युक्ति दोनों से प्रमाणित होती है। स्वार्थयुक्त ब्राह्मणों ने जिस कुलगुरु-प्रथा का प्रचार किया, वह वेद और शास्त्रों के विरुद्ध है। इसीलिए साधना करने पर भी लोग अब सिद्ध या ब्रह्मज्ञ नहीं होते।

फिर, शक्ति-संचारक गुरु के सम्बन्ध में तो और भी बड़े खतरों की सम्भावना है। बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो स्वयं तो बड़े अज्ञानी हैं, तो भी अहंकारवश अपने को सर्वज्ञ समझते हैं; इतना ही नहीं, बल्कि दूसरों को भी अपने कन्धों पर ले जाने को तैयार रहते हैं। इस प्रकार अन्धा अन्धे का अगुआ बन जाता है, फलत: दोनों ही गड्ढे में गिर पड़ते हैं।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमानाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।। कठ. २/५

– "अविद्या के अन्धकार में डूबे हुए भी, अहंकारवश स्वयं को ज्ञानी और महा-पण्डित समझनेवाले ये मूर्ख दूसरों की सहायता करना चाहते हैं, परन्तु ये कुटिल मार्ग में ही भ्रमण किया करते हैं। अन्धे का हाथ पकड़कर चलनेवाले अन्धे की भाँति ये गुरु और शिष्य दोनों ही गड्ढे में गिरते हैं।"

संसार ऐसे लोगों से भरा पड़ा है। हर आदमी गुरु होना चाहता है। भिखारी भी चाहता है कि वह लाखों का दान कर डाले! जैसे हास्यास्पद ये भिखारी हैं, वैसे ही ये गुरु भी!

आध्यात्मिक गुरु के द्वारा संप्रेषित जो ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है, उससे उच्चतर एवं पवित्र वस्तु और कुछ नहीं है। यदि मनुष्य पूर्ण योगी हो चुका है, तो वह स्वत: ही उसे प्राप्त हो जाता है। लेकिन पुस्तकों द्वारा तो उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। तुम दुनिया के चारों कोनों में – हिमालय,

आल्प्स, काकेशस पर्वत अथवा गोबी या सहारा की मरुभूमि या समुद्र की तली में जाकर अपना सिर पटको, पर बिना गुरु मिले तुम्हें वह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

भगवान की कृपा अथवा उनकी योग्यतम सन्तान महापुरुषों की कृपा प्राप्त कर लो। ये ही दो भगवत्प्राप्ति के प्रधान उपाय हैं। ऐसे महापुरुषों का संग-लाभ होना बहुत ही कठिन है, पाँच मिनट भी उनका ठीक ठीक संग मिल जाय तो सारा जीवन ही बदल जाता है। यदि तुम इन महापुरुषों की संगति के सचमुच इच्छुक हो तो तुम्हें किसी न किसी महापुरुष का संगलाभ अवश्य होगा। ये भक्त, ये महापुरुष जहाँ रहते हैं, वह स्थान पवित्र हो जाता है, 'प्रभु की सन्तानों का ऐसा ही माहात्म्य है।' वे स्वयं प्रभु हैं, वे जो कहते हैं वही शास्त्र हो जाता है। ऐसा है उनका माहात्म्य! वे जिस स्थान पर निवास करते हैं, वह उनके देहनि:सृत पवित्र शक्ति-स्पन्दन से परिपूर्ण हो जाता है; जो कोई उस स्थान पर जाता है, वही उसी स्पन्दन का अनुभव करता है और इसी कारण उसके भीतर भी पवित्र बनने की प्रवृत्ति जग उठती है।

शिष्य के लक्षण

शिष्य के लिये यह ज़रूरी है कि उसमें पवित्रता, सच्ची ज्ञान-पिपासा और अध्यवसाय हो। अपवित्र आत्मा कभी यथार्थ धार्मिक नहीं हो सकती। धार्मिक होने के लिये तन-मन और वचन की शुद्धता नितान्त आवश्यक है। रही ज्ञान-पिपासा की बात, तो इस विषय में यह एक सनातन सत्य है कि **'जाकर जा पर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलहि न कछु सन्देहू'** – हम जो चाहते हैं, वही पाते हैं। धर्म के लिये सच्ची व्याकुलता होनी बड़ी कठिन बात है। धर्म सम्बन्धी बातें सुनना, धार्मिक पुस्तकें पढ़ना – केवल इतने से ही नहीं सोच लेना चाहिये कि हमारे हृदय में सच्ची ज्ञान-पिपासा है। इसके लिये तो हमें अपनी पाशविक प्रकृति के साथ निरन्तर जूझते रहना होगा, सतत युद्ध करना होगा और उसे अपने वश में लाने के लिये अविराम संघर्ष करना होगा। कब तक? जब तक हमारे हृदय में धर्म के लिये सच्ची व्याकुलता उत्पन्न न हो जाय, जब तक विजयश्री हमारे हाथ न लग जाय। सम्भव है किसी को सिद्धि थोड़े समय में ही प्राप्त हो जाय, पर उसके लिये अनन्त काल तक भी बाट जोहनी पड़े, तो भी हमें तैयार रहना चाहिये। जो शिष्य इस प्रकार अध्यवसाय के साथ साधना में प्रवृत्त होता है, उसे सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है।

गुरु के लक्षण

गुरु के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि उन्हें धर्मशास्त्रों का मर्म ज्ञात हो। जो गुरु शब्दाडम्बर के चक्कर में पड़ जाते हैं, वे उसके भीतर का मर्म खो बैठते हैं। शास्त्रों की वास्तविक आत्मा के ज्ञान से ही सच्चे गुरु का निर्माण होता है। संसार के प्रधान आचार्यों में से कोई भी शास्त्रों की नानाविध व्याख्या करने के झमेले में नहीं पड़ा। वे शब्दार्थ और धात्वर्थ के फेर में नहीं पड़े। फिर भी उन्होंने संसार को बड़ी सुन्दर शिक्षा दी।

गुरु के लिये दूसरी आवश्यक बात है – निष्पापता। ... स्वयं आध्यात्मिक सत्य की उपलब्धि करने और दूसरों में उसका संचार करने का एकमात्र उपाय है – हृदय और मन की पवित्रता। जब तक चित्तशुद्धि नहीं होती, तब तक भगवद्-दर्शन अथवा उस अतीन्द्रिय सत्ता का आभास तक नहीं मिलता। तभी उनके शब्दों का मूल्य होगा, क्योंकि तभी वे आध्यात्मिक शक्ति के सच्चे संचारक हो सकते हैं।

गुरु के लिये तीसरी आवश्यक बात है – उद्देश्य। गुरु को धन, नाम या यश सम्बन्धी स्वार्थ-सिद्धि हेतु धर्म-शिक्षा नहीं देनी चाहिये। उनके कार्य तो केवल प्रेम से – सारी मानव-जाति के लिये विशुद्ध प्रेम से ही प्रेरित हों।

जब देखो कि तुम्हारे गुरु में ये सब लक्षण मौजूद हैं, तो फिर तुम्हें कोई आशंका नहीं। जो शास्त्रज्ञ, निष्पाप, कामगन्धहीन और श्रेष्ठ ब्रह्मवित् है, केवल वही सच्चा गुरु है। ... जब ऐसे विधाता-निर्दिष्ट गुरु प्राप्त हो जायँ, तो उनके समक्ष बालकवत् विश्वास और सरलता के साथ अपना हृदय खोल दो और उनमें साक्षात् ईश्वर के दर्शन करो। ❑❑❑

पुरखों की थाती

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्।।

– बुद्धिमान् व्यक्ति बिना पूछे किसी को ज्ञान न दे और विधिपूर्वक न पूछे जाने पर भी मौन रहे; सब कुछ जानते हुए भी वह अज्ञानी के समान आचरण करे।

कर्णस्त्वचं शिबिर्मांसं जीवं जीमूतवाहनः।
ददौ दधीचिरस्थीनि नास्त्यदेयं महात्मनाम्।।

– महात्माओं के लिये ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसका वे त्याग नहीं कर सकते – कर्ण ने अपनी त्वचा, शिबि ने अपना मांस, जीमूतवाहन ने अपना प्राण और दधीचि ने अपनी अस्थियाँ तक दान कर दी थीं।

कृत-कर्म-क्षयो नास्ति कल्प-कोटि-शतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।।

– अपने किये हुए भले तथा बुरे कर्मों का फल निश्चित रूप से भोगना पड़ता है, सौ करोड़ युग बीत जाने पर भी किये हुए कर्म का नाश नहीं होता।

श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (७/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

अनादित्व का यही संकेत आपको श्रीमद्-भगवद्-गीता में भी मिलेगा। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बड़ा दिव्य ज्ञान दिया। फिर कहा – यह जो ज्ञान तुम्हें दिया, यह अत्यन्त रहस्यमय है। और बोले – अर्जुन, इस ज्ञान को पहले मैंने सूर्य को सुनाया था। सूर्य ने इच्छ्वाकु को सुनाया, इच्छ्वाकु ने मनु को सुनाया और मनु से अन्य राजाओं को मिला।

अर्जुन उनका मुँह ताकने लगे। पूछा – महाराज, आपकी आयु कितनी है? आप कह रहे हैं, मैंने सूर्य को सुनाया। यह कैसे सम्भव है? आपकी आयु तो मेरे आस-पास ही होगी। उत्तर में भगवान कहते हैं – अर्जुन, हम और तुम संसार में पहली बार थोड़े ही दिखाई दे रहे हैं! मेरे अनेक जन्म हो चुके हैं और तुम्हारे भी अनेक जन्म हो चुके हैं –

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।। ४/५

कवि ने जो लिखा कि शंकरजी अनादि कवि हैं, उसका तात्त्विक अर्थ क्या है? क्या महर्षि वाल्मीकि से पहले राम-कथा नहीं थी? क्या रामकथा काव्यमयी नहीं थी? समय की दृष्टि से भले ही मान लें कि महर्षि वाल्मीकि ने पहला रामायण लिखा, पर सत्य तो यह है कि राम अनादि हैं और उनकी कथा भी अनादि है। अत: जब कवि द्वारा वर्णन किया जाता है, तो उसका मूल उद्देश्य बहुत ऊँचा होता है।

आप पढ़ते हैं – महाराज मनु दशरथ और सतरूपाजी कौशल्या बनीं। तपस्या के बाद भगवान ने दोनों को वरदान दिया कि मैं तुम्हारा पुत्र बनूँगा। पर जो वरदान देने आये थे वे कौन थे? – भगवान राम और सीताजी। मनु के काल में भी भगवान राम और सीता थे और उनके सामने प्रगट हुए थे। पर आप यही कहेंगे कि सीताजी जनकपुत्री हैं। श्रीराम जनकपुर आते हैं, धनुष तोड़ते हैं और दोनों का विवाह होता है। पर पूर्व काल में जब मनु ने आँखें खोलकर देखा, तो श्रीराम और उनकी बायीं ओर आदि-शक्ति सीता खड़ी हैं –

बाम भाग सोभति अनुकूला ।
आदि शक्ति छबिनिधि जग मूला ।। १/१४८/२

यहाँ भी अनादित्व की बात है। मनु के जीवन में भगवान आये और उनके द्वारा हम उनकी लीला-चरित्र का आनन्द लेते हैं। पर सत्य तो यही है कि मनु जब नहीं थे, तब भी भगवान राम तथा सीता थे, और मनु के सामने भी भगवान राम तथा सीता हैं। बड़ी मधुर बात है – मनु ने कल्पना की थी कि दर्शन देने एक आयेगा, पर आ गये दो! मनु सहज भाव से सोचने लगे कि जिनको मैंने नहीं बुलाया, ये कौन हैं? भगवान स्वयं परिचय देते हैं – मनु, ये आदिशक्ति हैं।

आदिशक्ति के द्वारा अनादि सृष्टि का जन्म हुआ, यह काल और दर्शन की भाषा है। कहते हैं कि इस संसार को भगवान ने बनाया। और भगवान कहते हैं – ये आदिशक्ति ही संसार को बनानेवाली हैं। और साथ ही बोले – तुमने तो केवल मुझसे ही जन्म लेने को कहा है, पर जब मैं जन्म लूँगा, तो ये – मेरी आदिशक्ति, मेरी माया भी जन्म लेंगी –

आदि सक्ति जेहिं जग उपजाया ।
सोउ अवतरिहिं मोरि यह माया ।। १/१५२/४

पूछा जा सकता है – मनु केवल आपको चाहते थे और आप कहते हैं कि आपके साथ बिना निमंत्रण के ही आदिशक्ति सीताजी भी आयेंगी! भगवान का व्यंग्यात्मक तात्पर्य था – महाराज मनु, तुमने कहा कि मैं आपके समान पुत्र चाहता हूँ। मैं तुम्हारा पुत्र बनूँगा, तो संसार की दृष्टि से धीरे-धीरे मेरी अवस्था बढ़ेगी और किशोरावस्था के बाद जब मेरी युवावस्था आयेगी, तब तुम्हें चिन्ता होगी कि मेरे विशेष पुत्र के लिये कोई योग्य वधू होनी चाहिये। वह काम तुम्हें न करना पड़े, तुम्हें वधू न खोजना पड़े, और मेरे योग्य कोई अन्य वधू है ही नहीं, अत: मैं इन्हें भी ले आऊँगा, ताकि तुम्हें परिश्रम न करना पड़े। हम तो आयेंगे ही, इनको भी लेते आयेंगे।

जो अनादि हैं, उसके आदि का उद्देश्य केवल इतना होता है कि कोई भी कार्य जब हम प्रारम्भ करेंगे, तो कहीं-न-कहीं से उसे प्रारम्भ करेंगे ही। और जहाँ से उसे प्रारम्भ करेंगे, वहीं से उसे आदि मान लीजिये। इस प्रकार कवि द्वारा काव्य की अनेक पंक्तियों द्वारा जो महान् दार्शनिक बातें रखी गईं, वे उस सिद्धान्त का प्रतिपादन करती हैं, जो वस्तुत: व्यावहारिक सत्य से भी ऊपर का सत्य है। इसलिये कहा गया कि यह कल्पना नहीं है, असत्य नहीं है, अपितु कवि की सृष्टि का सत्य है। इसीलिये कवि का बड़ा सम्मान है।

भगवान शंकर के लिये एक शब्द का प्रयोग किया गया – 'भव' और संसार के लिये भी कहा गया – 'भव'। भव का अर्थ है संसार और भव का दूसरा अर्थ है शंकर। क्या

शब्दों की कमी थी? दोनों को दो अलग-अलग नाम देते ! यह बड़ा भ्रम उत्पन्न करनेवाला है, सुननेवाला तो चक्कर में पड़ जायेगा। संस्कृत में एक व्यंग्य है – मघवा मूल बिड़ौजा टीका। किसी बड़े विद्वान् पण्डितजी से पूछा गया – 'मघवा' शब्द का क्या अर्थ है? बोले – मघवा का अर्थ है 'बिड़ौजा'। सुननेवाला चकरा गया। बोला – महाराज, बिड़ौजा का क्या अर्थ है? घूमा-फिराकर पता चला कि वह इन्द्र का नाम है। सीधे कह देते, तो उनके पाण्डित्य का परिचय कैसे मिलता !

तो कवि का यह जो शब्दगत अभिप्राय है, उसको यदि गहराई से विचार करके देखें, तो आपको रस की अनुभूति होगी। आप ज्यों-ज्यों उसके साधारण स्तर में और उसके अन्तरंग में भी पैठते जायेंगे, त्यों-त्यों आपको उसके अर्थ का अधिकाधिक बोध होगा – अर्थ है, अनर्थ है, परमार्थ है।

इस 'भव' शब्द के द्वारा रामायण में कितनी बड़ी बात कही गई ! सीताजी पार्वतीजी के मन्दिर में पूजन करने जाती हैं। पूजन के बाद वे भगवती पार्वतीजी की स्तुति करती हैं –

जय जय गिरबर राज किसोरी।
जय महेस मुख चंद चकोरी।।
जय गजबदन षडानन माता।
जगत जननि दामिनि दुति गाता।।
नहिं तव आदि मध्य अवसाना।
अमित प्रभाउ बेदु नहिं जाना।। १/२३५/५-७

अगला वाक्य आप जरा ध्यान से पढ़िये। क्या?

भव भव बिभव पराभव कारिनि।
बिस्व बिमोहनि स्वबस बिहारिनि। १/२३५/८

मान्यता यह है कि शक्ति के द्वारा संसार का निर्माण होता है और शक्ति के द्वारा संसार का पालन तथा संहार होता है। पार्वतीजी जगन्माता हैं, तो जन्म देती हैं, यह तो ठीक है, पालन करती हैं, यह भी ठीक है, पर यह पढ़कर बड़ा बुरा लगेगा कि वे संहार भी करती हैं? जब पार्वतीजी के मन्दिर में उनका रूप देखते हैं तो कितना आनन्द आता है, पर जब उन्हीं पार्वती को आप महाकाली के रूप में देखते हैं, तो उनका रूप बड़ा विकट, बड़ा डरावना-सा लगता है। काली के रूप में ये भी वे पार्वतीजी ही हैं। नवदुर्गा के वर्णन में है – कालरात्रि भी दुर्गा हैं और गौरी भी वे ही हैं; चन्द्रघण्टा भी वे ही हैं, महाकाली भी वे ही हैं। इन सबके पीछे जो तात्पर्य है, यदि उसे कोई समझ ले, तो जीवन की प्रत्येक परिस्थितियों में वह एक नये रस का अनुभव कर सकता है। और वह यह है कि जो हमें अनुकूल है, वह हमें अच्छा लगता है और जो हमें प्रतिकूल है, वह हमें बुरा लगता है। तब हम ब्रह्मा को कोसने लगते हैं। पर जगदम्बा जन्म देती हैं, पालन करती हैं और संहार करती हैं – सुनकर कठोर-सा लगता है। पर सीताजी ने इसे बड़ा मधुर बना दिया। उसमें कविता का बड़ा आनन्द आ गया। उन्होंने पार्वतीजी से यह नहीं कहा कि आप जन्म देनेवाली, पालन करनेवाली और संहार करनेवाली हैं। चौपाई के शब्दों को पढ़िये। क्या कहती हैं? – भव भव – संसार को जन्म देनेवाली। यहाँ भव का अर्थ है जन्म देना। फिर 'विभव' – पालन करनेवाली' और 'पराभव' – संहार करनेवाली। सीधे कह देतीं – आप संसार को बनाती हैं, पालन करती हैं और संहार करती हैं। पर काव्य में कितना आनन्द और कितना बड़ा दर्शन निहित है।

किसी ने सीताजी से पूछा – जो देवी संसार को बनाती हैं, जो पालन करती हैं, वे संहार कैसे करती हैं? मारती कैसे हैं? सीताजी कहती हैं – अरे, शब्दों को तो देखो ! इससे तुम्हारी दृष्टि बदल जायेगी। भव, भव, विभव, पराभव – ये जो तीन शब्द हैं, तीनों में 'भव' शब्द मिला हुआ है। भव का अर्थ है शंकर। बोले – पार्वती को तो सबमें शिव-ही-शिव दिखाई देते हैं। और यदि वही दृष्टि मिल जाय कि चाहे पराभव हो तो भी भव है, विभव है तो भी भव है, और भव है तो भी भव है, तो दृष्टिकोण कितना बदल जायेगा ! हम जीवों का संसार तभी तक संसार है, जब तक कि हम इसे शिव के रूप में नहीं देखते। ज्योंही दृष्टि मिल जायेगी, त्योंही दिखेगा कि सर्वत्र शिव ही तो हैं।

कविता में नौ रस होते हैं। शृंगार-रस तो समझ में आता है, हास्य-रस और वीर-रस भी समझ में आते हैं। पर जब कहा जाय – रौद्ररस, भयानक रस, और जब और भी आगे बढ़कर कहा जाय – बीभत्स रस। तो लगता है कि ये भी कोई रस हैं क्या? रस हास्य है, रस शृंगार है। पर रौद्र, भयानक, बीभत्स – ये भी क्या रस हैं? भोजन में भी प्रसिद्ध है – षड्रस। यदि एक ही तरह की वस्तु परोस दी जाय, तो अच्छा नहीं लगता। भोजन में कई प्रकार की – षड्रस की वस्तुयें परोसी जाती हैं, तो उसमें मीठा और नमकीन तो होता है, पर साथ ही कड़वा और कसैला भी होता है।

जनकपुरी में बारात गई और महाराज दशरथ भोजन करने बैठे। महाराज दशरथ सम्राट् हैं, पूज्य हैं, पर स्त्रियाँ जब गाली गाने लगीं, तो वे अपने संगियों के साथ हँसने लगे –

हँसत राउ सुनि सहित समाजा। १/३२९/७

महाराज दशरथ बड़े प्रसन्न हो रहे हैं। आपको यदि कोई गाली दे, तो आप कितने क्रोधित होंगे? उनसे पूछा गया – आप इतने प्रसन्न क्यों हो रहे हैं, तो बोले – देखो, यदि कोई षड्रस भोजन परोसे, तो वह स्वादिष्ट लगता ही है। पर भोजन के षड्रस के साथ-साथ, यहाँ तो कानों को भी नौ रस दिया जा रहा है। इसलिये मुँह से भोजन के साथ ही कानों से भी भोजन हो रहा है। फिर षड्रस भोजन में जब आपके खाने में मिर्च आ जाता है, तो आँखों में आँसू आ जाते हैं, पर इसके बावजूद वह आपको स्वादिष्ट ही लगता है। इसका

अर्थ यह है कि जीवन में कभी हँसी आयेगी, तो कभी आँसू आयेंगे, कभी शान्ति आयेगी तो कभी भयानक-रौद्र के प्रसंग भी आयेंगे। और कभी कुछ बड़ी बीभत्स, बड़ी घिनौनी घटना भी होगी। लेकिन समझ लेना होगा कि यह भी एक रस है।

कवि अपनी कविता में नौ रसों का प्रयोग करता है। यथा – लंका के युद्ध का, रावण की लाश का – सिर और भुजायें – राक्षसों की लाशें बिखरी पड़ी हैं। उन पर कौवे, गिद्ध, सियार झपट रहे हैं। यह वर्णन कैसा घिनौना लगता है ! पर सबको लेकर ही आनन्द पूरा होता है। शंकरजी पार्वतीजी से कहते हैं – मैं भी वहाँ था और युद्ध का आनन्द ले रहा था –

हमहू उमा रहे तेहिं संगा।
देखत राम चरित रन रंगा ।। ६/८१/२

एक व्यक्ति पोस्टमार्टम देखकर ही घबरा जाता है। इतनी संख्या में जहाँ लाशें बिखरी पड़ी हों, तो आदमी क्या घबरा नहीं जायेगा? पर इस सत्य को हम नकार नहीं सकते। एक रस से जीवन नहीं बनता। जीवन जो है, वही भव है, वही विभव है, वही पराभव है। अब कवि की कला यही है कि उसको रखने की पद्धति के द्वारा हमें नये आनन्द को खोजने और देखने की शक्ति दे देता है। आप पढ़ते हैं – भगवान शंकर बारात लेकर गये। क्या हुआ? मैना थाल लिये दूल्हे की आरती करने आईं और शंकरजी को देखते ही घबरा गईं। थाल पटक दिया। दिया बुझ गया। रोते हुये चली गईं। शगुन-अशगुन वाला होता तो कहता – बड़ा अशगुन हुआ। क्रोधी दूल्हा होता, तो कहता – मेरा बड़ा अपमान हुआ, वापस जा रहा हूँ। पर शंकरजी मुस्कुराने लगे। और मुस्कुराते हुए उन्होंने सुना – महाराज, थाल पटकने के बाद वहाँ विलाप शुरू हो गया। स्त्रियाँ रो रही हैं। शंकरजी फिर भी मुस्कुराने लगे। फिर थोड़ी देर में समाचार आया कि नारदजी आये हुए हैं और उपदेश दे रहे हैं। तो भी शंकरजी मुस्कुरा रहे हैं। – महाराज, इतनी घटनायें बदल रही हैं, क्या आपको बड़ा आनन्द आ रहा है, जो मुस्कुराये जा रहे हैं। वे बोले – "मैं तो कवि हूँ और कवि के बारात में नौ रस आनी ही चाहिये। और लोग माँग करते हैं कि स्वागत दुल्हे का ही नहीं, बारातियों का भी ठीक-ठीक होना चाहिये। यहाँ तो स्वागत का बहुत बढ़िया प्रबन्ध है। मुझे देखते ही भयभीत हो गये। रौद्र रस का बाराती आया, उसका स्वागत ! काँपते हुए भयानक का स्वागत ! मेरे गले में हड्डियों – नरमुण्डों की माला देखकर मैनाजी भाग गयीं, तो बीभत्स रस का स्वागत ! रोने लगीं, तो करुण रस का स्वागत ! नारदजी के उपदेश से उनकी शोक-पीड़ा मिट गई, तो शान्त रस का स्वागत !" कवि की यही दृष्टि है – **हर घटना में – मान में, अपमान में, सुख में, दुख में, सुन्दर श्रृंगार में और बीभत्स में भी जो आनन्द लेते हैं, वे ही तो शिव हैं।**

शिव का आनन्द इसीलिये है और इसीलिये उनके जीवन का आनन्द सदा नित्य एक रस है। इसलिये कवि के द्वारा जो बातें कही जाती हैं, उनको आप संसार में ढूँढ़ने जायेंगे कि ऐसा हंस मिल जाये जो दूध और पानी को अलग कर दे, उसको पालकर रख लें और दूधवाला आये, तो दूध हंस के सामने रख दें, वह दूध और पानी को अलग कर देगा। तो क्या इस संसार में ऐसा हंस मिलेगा? तो यह हंस आपको रामायण में मिलेगा। गोस्वामीजी ने कहा – यह राम-चरित-मानस मानसरोवर है। बोले – तो महाराज, मानसरोवर में तो हंस होते हैं, आपके मानसरोवर में हंस हैं क्या? बोले – हाँ हैं, ज्ञान, विचार और वैराग्य – ये तीनों ही हंस हैं –

ज्ञान बिराग बिचार मराला। १/३६/७

सत् को असत् से अलग कर देना ही तो विचार का फल है। असत् का त्याग करके सत् को ग्रहण कर लेना, यही तो ज्ञान का फल है और जो असत् है, उससे वैराग्य हो जाय, यही तो जानने का फल है। तो कवि के काव्य में जो वस्तुयें हैं, जो व्यक्ति हैं, जो पदार्थ हैं, उनको गहराई से आप पढ़ें, सुनें और सोचें कि इनका अर्थ और उद्देश्य क्या है।

चातक का वर्णन गोस्वामीजी ने किया है। उन्होंने कहाँ से देख लिया कि चातक को बहेलिये ने मारा और वह बाण लगने पर गंगा में गिर पड़ा और उसने अपनी चोंच बन्द कर ली। कहाँ से देख लिया कि चातक माली से बात कर रहा है? क्या आपने कभी देखा है कि पक्षी आकर माली से बात कर रहा हो और यह सुनकर कि बाग स्वाति नक्षत्र के जल से नहीं सींचा गया है, उस बाग में ही न जाय?

वस्तुत: यह साधना का तत्त्व है। साधक यदि मानकर चलेगा कि जीवन में जो दिखाई दे रहा है, वही सच है, तब वह जीवन के उलझनों से कभी पार हो नहीं पायेगा। उसे उससे ऊपर उठकर आगे की चेष्टा करनी होगी। मूल तत्त्व यह है कि हंस विवेक का प्रतीक है, जिसके माध्यम से विवेक की व्याख्या की जाती है, वैसे ही चातक प्रेम की अनन्यता का प्रतीक है। संसार में अपने को अनन्य कहनेवाले तो बहुत हैं, पर वे सचमुच अनन्य नहीं हैं। तो इस अनन्यता का वास्तविक तात्पर्य क्या है? मनुष्य सुख और आनन्द पाने के लिये व्यग्र हो रहा है। वह आज एक व्यक्ति से, कल दूसरे व्यक्ति से, परसों तीसरे व्यक्ति से आनन्द पाने की चेष्टा करता है। परन्तु थोड़े दिनों बाद उसे निराशा हो जाती है। परन्तु चातक की अनन्यता कुछ भिन्न है।

जैसे ज्ञान में हंस के विवेक की प्रधानता है, वैसे ही प्रेम में चातक की अनन्यता की विशेषता है। अनन्यता दो प्रकार की है – एक आरोपित अनन्यता और दूसरी सहज अनन्यता। जो लोग वाणी से कहते हैं कि मैं अनन्य हूँ, उनके जीवन में वास्तविक अनन्यता नहीं, आरोपित अनन्यता ही दिखाई देती

है। दूसरी अनन्यता मछली की जल के प्रति है। जल से अलग होते ही उसके प्राण चले जाते हैं। जल के बिना वह एक क्षण जीवित नहीं रह सकती। जल के प्रति मछली की जो वृत्ति है, उसे आप स्वयं में ला नहीं सकते। मछली में वह सहज है। वैसे ही सहज अनन्यतावाले व्यक्ति के जीवन की वृत्ति ही ऐसी है कि अन्य की ओर न उसकी दृष्टि जाती है, न अन्य को वह देख और समझ पाता है।

ऐसी अनन्यता के रामायण में कुछ दृष्टान्त हैं। अनन्यता के एक दृष्टान्त हैं लक्ष्मण जी और दूसरे हैं भुशुण्डि जी। नकली अनन्यता यदि देखनी हो, तो भुशुण्डि के पूर्व जन्म को देखिये। और अनन्यता का सहज रूप आप लक्ष्मण जी के जीवन में पा सकते हैं। गोस्वामीजी विनय-पत्रिका में उनकी बड़ी भावपूर्ण वन्दना करते हैं। कहते हैं – हे लाडले लखनलाल, आप तो जन के हित हैं। भरतजी आपसे बड़ा प्यार करते हैं। दो माताओं का प्रेम आपको मिला हुआ है। आप सुमित्रा और सीता, दोनों के दुलारे बालक हैं –

लाल लाड़िले लखन हित हौ जन के।
सेवक सुखदायक सबल सब लायक
गायक जानकीनाथ गुनगन के।।
भावते भरत के, सुमित्रा-सीता के दुलारे।
चातक चतुर राम स्याम घन के।।३।।

और श्रीराम से लक्ष्मण का क्या नाता है? कह सकते थे – उनके श्रेष्ठ भाई हैं। पर बोले – हे लक्ष्मणजी, आप राम श्याम घन के चातक हैं। लक्ष्मणजी की अनन्यता कैसी है? जैसे कोई कहे कि आप सांस रोक लीजिये, तो आप चाहें तो भी नहीं रोक सकेंगे, एक मिनट में ही घबराहट होने लगेगी। वैसे ही चातक की वह वृत्ति – व्यक्ति जिसके बिना रह नहीं सकता, जिसके बिना सोच नहीं सकता, जो सहज अनन्यता है, उसका निदर्शन आपको लक्ष्मणजी के जीवन में मिलेगा।

भगवान राम वन जानेवाले हैं। यह समाचार लक्ष्मण को मिलता है। वे आँखों में आँसू भरे बड़े व्याकुल होकर प्रभु के समक्ष आते हैं। गोस्वामीजी ने लक्ष्मणजी के लिये बड़ी मधुर उपमा दी है। वे उन्हें चातक या मीन बताते हैं। लक्ष्मणजी प्रभु के सामने हाथ जोड़ कर खड़े है। उन्हें देखकर प्रभु को ऐसा लगता है मानो मछली जल से अलग कर दी गई हो –

समाचार जब लछिमन पाये।
ब्याकुल बिलख बदन उठि धाये।।
कंप पुलक तन नयन सनीरा।
गहे चरन अति प्रेम अधीरा।।
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े।
मीनु दीन जनु जल तें काढ़े।। २/७०/१-३

मछली जल से अलग होने पर प्राण दे देती है, पर लक्ष्मण तो कल्पना मात्र से ही मर रहे हैं। कल्पना ही उनको इतना भयभीत कर रही है, वे ऐसे तड़प रहे हैं, जैसे मछली जल से निकलते ही तड़पने लगे। प्रभु ने उनकी दशा देखी और उन्हें उपदेश देने लगे – लक्ष्मण, धर्म का पालन करो, कर्तव्य का पालन करो और देखो, कर्तव्य ही सबसे बड़ी वस्तु है, उससे भागना नहीं चाहिये। जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखी हो, वह नरक में जाता है। पिताजी इस समय ऐसी दशा में हैं कि राज्य नहीं चला सकते। भैया भरत दूर हैं। अत: तुम्हीं को इस कर्तव्य का पालन करना है –

भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं।
राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं।। २/७१/२
रहहु करहु सब कर परितोषू।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू।।
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृपु अवसि नरक अधिकारी।।२/७१/५-६

वैसे लक्ष्मणजी ने प्रभु की बात स्वीकार नहीं की। आप कहेंगे – यह तो अवज्ञा है। प्रभु कह रहे हैं कि लक्ष्मण, तुम रुको और लक्ष्मण रुक नहीं रहे हैं, तो अवज्ञा ही तो कर रहे हैं। अवज्ञा बहुत बड़ा अपराध है। पर भगवान राम ने क्या कहा? उन्होंने यह तो नहीं कहा कि मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ। अन्त में भगवान को ही हार माननी पड़ी। लक्ष्मण को साथ ले जाना पड़ा। क्यों? आप यदि मछली के पास जाकर बहुत ऊँचा वक्तव्य दें कि रायपुर में कितनी सड़कें हैं, कितने भवन हैं, कितने चमत्कार हैं और तुम जल में पड़ी हुई हो। चलो, मेरे साथ जरा सड़क पर घूमकर देखो न! तो मछली क्या आपके उपदेश से प्रभावित होगी? उसके तो प्राण ही चले जायेंगे। प्रभु समझ गये कि मैं चाहे जितना भी उपदेश क्यों न दूँ, पर यह जो मछली-वृत्तिवाला, चातक-वृत्तिवाला है, कहीं उपदेश से मान सकता है? इसीलिये भगवान ने जब लक्ष्मणजी से कहा – गुरु-पिता-माता की सेवा करो। तो वे बोले – मैं गुरु, पिता, माता – किसी को नहीं जानता –

गुर पितु मातु न जानउँ काहू।। २/७२/४

यह बात तो हजारों नौजवान कहा करते हैं – "क्या होता है गुरु? क्या होते हैं पिता? क्या है माँ? मैं तो बस अपनी बुद्धि पर भरोसा रखता हूँ।" क्या ये सब लक्ष्मणजी के भक्त हैं, उन्हीं के अनुयायी हैं? ये नकली हैं, अभिमान की भाषा में ऐसा बोलते हैं। पर लक्ष्मणजी सहज वृत्ति से बोलते हैं।

जब लक्ष्मणजी को यह समाचार मिला कि भरत सेना लेकर आ रहे हैं और उन्हें प्रभु के मुख पर चिन्ता दिखाई दी। वे सोचने लगे – प्रभु को यह चिन्ता हो रही है कि क्या भाई के विरुद्ध शस्त्र उठाना पड़ेगा? लक्ष्मणजी का वीर-रस जाग्रत हो गया। बोले – आज मैं भरत का वध कर दूँगा। और साथ ही यह भी जोड़ दिया – यदि शंकरजी भी आकर भरत की सहायता करें, तो भी मैं उसे मार डालूँगा –

जौं सहाय कर संकरु आई ।
तौ मारउँ रन राम दोहाई ।। २/२३०/८

भगवान राम शंकर की पूजा करते हैं। वे कहते हैं कि शंकर की भक्ति के बिना कोई मेरी भक्ति पा ही नहीं सकता –

संकर भगति बिना नर भगति न पावइ मोर ।

और लक्ष्मणजी कहते हैं कि यदि शंकरजी भी आ जायँ, तो भी मैं मारूँगा। और यहाँ तो एक ही शंकर हैं, मेघनाद से जब लड़ने चले तो क्या बोले? – यदि सैकड़ों शंकर भी आकर मेघनाद की रक्षा करें, तो भी मैं उसका वध करूँगा –

जौ सत संकर करहिं सहाई ।
तदपि हतऊँ रघुबीर दोहाई ।। ६/७५/१४

पर भगवान ने नहीं पूछा कि तुम शंकरजी के बारे में ऐसा क्यों बोल रहे हो? वे जानते थे कि उनकी वह भाषा अभिमान की नहीं थी। गंगाजल में गिरने के बाद चातक ने चोंच बन्द कर ली, तो वह गंगाजल के अपमान की वृत्ति नहीं है, वह तो उसकी अनन्यता की वृत्ति है। दूसरे के जल को ग्रहण करना इसके लिये असम्भव है। उसकी यह अनन्यता सहज है, आरोपित नहीं है। चातक और मछली की अनन्यता, यह उनके जीवन की सहज अनन्यता है। एक अनन्य भुशुण्डिजी भी बने थे। शंकर भगवान के इतने अनन्य बन गये कि भगवान विष्णु की, भगवान राम की निन्दा ही करते रहते थे। अन्ततः उन्हें शंकरजी से ही शाप मिला।

यह नकली – अभिमानजन्य अनन्यता है। दूसरी सच्ची अनन्यता है – जनकपुर के दूतों से महाराज श्री दशरथ ने पूछा – मेरे पुत्रों को आपने देखा? – पत्र लेकर आये हैं, तो देखा ही होगा। नहीं बोले, तो पूछा – देखा, तो अपनी आँख से देखा या नहीं? फिर भी सन्तोष न हुआ तो पूछा – अपनी आँख से भी देखा, तो ठीक से देखा या नहीं? सुननेवाले को तो लगेगा कि यह कौन-सी बुद्धिमानी है? वे कहते हैं –

भैया कहहु कुसल दोउ बारे ।
तुम्ह नीकें निज नयन निहारे ।। १/२९१/४

वे कुछ नहीं बोले। दशरथजी कहे जा रहे हैं – हमारा एक पुत्र साँवले रंग का है, दूसरा गोरे रंग का। यह क्या राम-लक्ष्मण के विषय में कोई कहने की बात है? अच्छा, साँवले-गोरे तो बहुत होंगे, पर महात्मा विश्वामित्र के साथ हैं, धनुष-बाण उनके हाथ में है। यदि सचमुच आप उन्हें पहचानते हैं, तो बताइये कि उनका स्वभाव कैसा है?

दूत चुप रहे। सोचने लगे – इस प्रश्न का उत्तर क्या दें? देखा, तो अपनी आँखों से देखा या नहीं, भलीभाँति देखा या नहीं और उनका स्वभाव कैसा है? दूत बोल नहीं रहे हैं और दशरथजी उन्हीं प्रश्नों को दुहराये जा रहे हैं –

पहिचानहु तुम्ह कहहु सुभाऊ ।
प्रेम बिबस पुनि पुनि कह राऊ ।। १/२९२/६

कैसा विचित्र दृश्य है। इसमें कहीं बुद्धिमत्ता दिखाई देगी क्या? सामनेवाला बोल नहीं रहा है। राजा को क्रोध आना चाहिये। हम बोले चले जा रहे हैं और तुम उत्तर ही नहीं दे रहे हो। लगातार बोले जा रहे हैं और जब इतने पर भी दूत नहीं बोले, तो कहने लगे कि अच्छा लगता है कि आप हमारे प्रश्नों को सुनकर कुछ नाराज हो गये। तो देखिये, वह तो आपके आने से भी पहले हमें समाचार मिलता था, पर मुझे लगता था कि वह सब गप्प था। यह भी कह दिया – अब आप लोग आये हैं, तो सच ही बोल रहे होंगे –

जा दिन तें मुनि गए लवाई ।
तब तें आजु साँचि सुधि पाई ।। १/२९१/७

फिर पूछा – अच्छा, यह बताइये कि विदेह ने कैसे जाना? आपने कैसे पहचाना। जब दूतों ने देख लिया कि ये तो प्रेम की उस दशा में हैं कि जिसका बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं। वे आनन्द ले रहे हैं कि उत्तर का आनन्द तो बाद में है, पहले प्रेम की दशा तो देखो, जिसमें इतना बड़ा सम्राट् कैसी भाषा बोल रहा है ! तब दूतों ने कुछ शब्दों में जो उत्तर दिया, वह बड़ा मधुर था। उन्होंने कहा – महाराज, आपने पूछा कि हमने आपके पुत्रों को अपनी आँखों से भलीभाँति देखा या नहीं? तो हम कहेंगे – हाँ, हमने उनको अपनी आँखों से भलीभाँति देखा है। – क्या प्रमाण कि देखा है? दूतों ने कविता की भाषा में कहा – महाराज, जबसे आपके पुत्रों को देखा है, तब से दिखना ही बन्द हो गया –

देव देखि तव बालक दोऊ ।
अब न आँखि तर आवत कोऊ ।। १/२९३/५

तो क्या वे दूत अन्धे हो गये थे? नहीं, एक बार भगवान का सौन्दर्य देखने के बाद देखने-योग्य कोई वस्तु शेष नहीं रह जाती। यही अनुभूति उनके शब्दों से व्यक्त हो रही है। कवि से पूछा गया – श्रीकृष्ण का दर्शन कैसे हो? वे बोले – उन्हें देखने के लिये सूरदास की अन्धी आँखें चाहिये –

देखन को घनस्याम की मूरति,
चाहिय सूर की आँधरि आँखें ।

अब इसको सुनकर कोई सुई से अपनी आँखें फोड़ ले, तो वह पागल है। उसका अर्थ यह है कि जब अन्य वस्तुयें दिखाई देना बन्द हो जायँ, तब वे दिखाई देते हैं। या जब वे दिखाई देते हैं तब और कुछ देखने की इच्छा ही नहीं रह जाती, कुछ देखने योग्य वस्तु ही नहीं रह जाती। इसलिये गोस्वामीजी ने रूप के सन्दर्भ में जिस चातक का वर्णन किया, वह चातक वृत्ति उनका स्वयं का जीवन है –

लोचन चातक जिन्ह कर राखे ।
रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ।। २/१२८/६

अकबर जैसे प्रतापी सम्राट् से यदि उनका परिचय नहीं हुआ और इन्द्र के लिये भी उन्होंने ऐसे शब्द लिख दिये, तो

किसी ने तुलसीदासजी से कहा – रामायण में आप इन्द्र की बड़ी हँसी उड़ाते हैं। सोच लीजिये, वे स्वर्ग के देवता हैं, आपकी अच्छी खबर लेंगे।'' गोस्वामीजी उस दोहे में लिखते हैं – अरे, क्या मैं इन्द्र से डरूँगा? जो स्वर्ग में भोगों के लिये बेचैन हैं, वे लोग डरें। हमें तो बस तीन टुकड़े कौपीन चाहिये और बिना नमक की भाजी चाहिये; इतने में अगर हमारे राम बसते हैं, तो बेचारा इन्द्र क्या है –

तीन टूक कौपीन में अरु भाजी बिनु लौन ।
इतने में रघुबर बसै तो इन्द्र बापुरो कौन ।।

यही अनन्यता की वृत्ति है। इसका अभिप्राय है कि जब तक हम भगवान पर भी भरोसा करते हैं और दूसरों से भी आशा लगाये रखते हैं, तो वह अनन्यता नहीं है। भगवान कहते हैं – यदि कोई मेरा दास कहलाकर भी अन्य मनुष्यों से आशा रखता है, तो मुझ पर उसका विश्वास ही कहाँ है !

मोर दास कहाइ नर आसा ।
करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ।। ७/४६/३

वह अनन्यता क्या है। उसे हम जीवन में किस रूप में ग्रहण करें इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। ❖ **(क्रमशः)** ❖

चिन्तन - १२४

उत्तेजना से दुःख

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

मनुष्य का मन ऐसे साँचे में ढला है कि तनिक प्रतिकूलता से वह उत्तेजित हो उठता है। परन्तु केवल परिस्थितियों की प्रतिकूलता ही उसकी मानसिक उत्तेजना का कारण नहीं बनती, बल्कि काम, क्रोध और लोभ के मानसिक वेग भी उसे उत्तेजित कर देते हैं। उत्तेजना में मनुष्य अपना आपा खो बैठता है और उसका विवेक दब जाता है, जो कदापि मनुष्योचित नहीं कही जा सकती। फिर वह पशु के समान ही इन्द्रियों का गुलाम बन जाता है। वह गुरुजनों तक का अपमान कर बैठता है और कभी कभी तो उत्तेजित होकर हत्या का जघन्य दुष्कृत्य भी कर डालता है।

काम, क्रोध और लोभ के वेग उत्तेजना के सशक्त कारण होते हैं, यह हम कह चुके हैं। गीता में एक श्लोक आता है -

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।।

- काम, क्रोध और लोभ - ये तीनों नरक के द्वार हैं, ये आत्मा का नाश करनेवाले हैं अर्थात् उसकी अधोगति के कारण होते हैं। इसलिए इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए। फिर गीता में ही अन्यत्र काम और क्रोध को महापेटू और महापापी कहा गया है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा था -

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।

- मनुष्य किससे प्रेरित होकर न चाहता हुआ भी बल-पूर्वक लगाये हुए के समान पाप का आचरण करता है?

इसके उत्तर में श्रीकृष्ण काम व क्रोध को इसका कारण बताते हैं। तात्पर्य यह कि उत्तेजना ही सब प्रकार के दुष्कर्मों और पापों की जड़ है। वह मनुष्य के पारिवारिक और सामाजिक जीवन को दुःखमय कर देती है। इसलिए मनुष्य को उत्तेजित होने से बचना चाहिए।

प्रश्न उठता है कि वह कैसे बचे? इसका उत्तर है - उत्तेजना के कारणों को दूर करके। उत्तेजना का एक कारण तो स्नायविक दुर्बलता है, जिसे दवा ठीक कर सकती है। पर जब उत्तेजना के मूल में काम, क्रोध, लोभ का वेग हो, तो ऐसे समय उत्तेजना की स्थिति में कोई क्रिया नहीं करने की आदत डालना मनुष्य की रक्षा करना है। इसके लिए मन में सब समय यह विचार उठाते रहने का अभ्यास करना चाहिए कि 'मैं उत्तेजना के क्षणों में कुछ नहीं करूँगा'। काम, क्रोध, लोभ के वेग आयेंगे, पर यह अभ्यास 'ब्रेक' का काम करेगा और उत्तेजना को मन के धरातल तक ही सीमित रखकर, उसे शरीर के धरातल पर नहीं उतरने देगा। हमारा यह अभ्यास हमें अनुचित करने से बचा देगा। क्रोधादि के वेग के समय मन विवेक से शून्य हो जाता है और मानो हम बरबस वह कर बैठते हैं, जो नहीं चाहते। पर उत्तेजना की स्थिति में कुछ भी न करने का निश्चय यदि हम सब समय मन के धरातल पर उठाते रहें, तो यह अभ्यास हमारा रक्षक बनेगा। हो सकता है कि हम कुछ बार असफल हों, पर उससे हम हतोत्साहित न हों और वैचारिक अभ्यास का क्रम न तोड़ें। हमें सफलता मिलेगी। ❑

समृद्धि की आधार-शिला (४)

स्वामी सत्यरूपानन्द

समृद्धि का चतुर्थ सोपान – परिपक्वता

शब्दकोश 'परिपक्वता' की इस प्रकार व्याख्या करता है – 'नैतिक शिष्टाचार सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण समर्पण तथा नैतिक चरित्र की पवित्रता'। परिपक्वता सफल प्रबंधन की आत्मा है। चरित्र का दौर्बल्य एवं अभद्र आचरण व्यवसाय पर दुष्प्रभाव डालते हैं तथा व्यक्ति की उन्नति में बाधक हैं।

परिपक्वता एक महान् नैतिक एवं आध्यात्मिक गुण है। जब किसी औद्योगिक संस्थान में कार्यरत अधिकांश व्यक्तियों में पर्याप्त मात्रा में परिपक्वता एवं नैतिक सिद्धान्तों के प्रति समर्पण होता है तब वह संस्थान समाज में अपनी ईमानदार छवि एवं साख स्थापित करता है।

इसके विपरीत अधिकांश तथाकथित कुशल प्रबंधक ऐसा मानते हैं कि अवसर पड़ने पर झूठ अथवा अन्य अनुचित साधनों का उपयोग किये बिना, व्यावसायिक सफलता संदिग्ध ही रहेगी। उनका यह दृढ़ मत है कि व्यावसायिक सफलता हेतु समयोचित हेर-फेर अनिवार्य है।

दुर्भाग्यवश ऐसी सोच वाले प्रबंधक मानव प्रकृति एवं नैतिक नियमों की सार्वभौमिकता से अनभिज्ञ होते हैं। धूर्तता का आलम्बन लेकर श्रेष्ठ परिणाम नहीं प्राप्त किये जा सकते। सार्वभौमिक शाश्वत नैतिक नियम इस तथ्य की स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि अनुचित एवं अनैतिक उपायों का आश्रय लेकर श्रेष्ठ परिणामों की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है।

नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थावान नियम एवं उद्योगों की समाज में अच्छी साख होती है। इस वजह से दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक लोगों का उद्यम एवं उसके उत्पादों पर विश्वास बढ़ता जाता है तथा उद्यम, सम्पन्नता एवं समृद्धि की दिशा में क्रमशः अग्रसर होता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी उत्कर्षोन्मुख व्यावसायिक घरानों एवं औद्योगिक संस्थानों का अध्ययन अवलोकन करने पर हम उनमें यह समानता पाते हैं कि उन सभी संस्थानों के नियंत्रणकर्ता बड़े चरित्रवान व सुगठित व्यक्तित्व के धनी थे।

बहुधा हमारा परिचय ऐसे व्यक्तियों से हुआ करता है जिन्होंने जोड़-तोड़ एवं हेरा-फेरी का आश्रय लेकर अत्यल्प समय में अकूत सम्पत्ति अर्जित कर ली है एवं समाज में अत्यन्त गणमान्य स्थान प्राप्त कर लिया है। किन्तु हमारा अनुभव हमें यह बताता है कि ऐसे तथाकथित अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्तियों की असलियत समाज के सामने आने में देर नहीं लगी। उन्हें अपनी झूठी साख खोनी पड़ी, उनकी सम्पत्ति सरकार द्वारा जप्त कर ली गयी एवं उनमें से किसी-किसी को कठोर कारावास भी भोगना पड़ा।

परिपक्वता व्यक्ति को शक्ति एवं साहस प्रदान करती है। परिपक्व व्यक्ति निर्भय होता है। अत: वह जैसा है, ठीक वैसा ही स्वयं को समाज में प्रस्तुत करता है। उसकी कथनी और करनी में सर्वदा मेल रहता है। उसका प्रत्येक बाह्य आचरण उसकी आन्तरिक भावनाओं एवं धारणाओं के अनुरूप होता है। परिपक्व व्यक्ति अपनी नीतियों एवं सिद्धान्तों में गहन आस्थावान होता है। सत्य एवं नैतिकता के प्रति गहन आस्था उसे सुदृढ़ चरित्र से सम्पन्न करती है तथा यह हम सभी जानते हैं कि दृढ़ चरित्रवान व्यक्ति कठिनतम व्यावसायिक समस्याओं को भी शान्त एवं सन्तुलित मन: स्थिति से साहसपूर्वक हल कर लेता है। अपनी गहन आस्था एवं सुदृढ़ चरित्र की सहायता से वह अपने मार्ग की प्रत्येक बाधा पर विजय प्राप्त करने में सफल होता है।

परिपक्व व्यक्ति अपने प्रत्येक लेन-देन में ईमानदार होता है। इसकी ईमानदारी एवं परिपक्वता से दूसरों में भी परस्पर आस्था एवं विश्वास की प्रेरणा का संचार होता है। अन्य लोग भी उसके साथ के लेन-देन में सुरक्षा एवं सुविधा का अनुभव करते हैं और इस प्रकार उसका व्यवसाय उत्तरोत्तर समृद्धि की ओर अग्रसर होता है।

लक्ष्य उन्मुखता

जीवन में एक उच्च लक्ष्य का होना परिपक्वता की अनिवार्य शर्त है। एक सुनिश्चित उच्च लक्ष्य सम्पूर्ण जीवन को सार्थकता एवं स्थायित्व प्रदान करता है। कहाँ जाना है? क्या प्राप्त करना है? इन सवालों का सटीक जवाब परिपक्व व्यक्ति के पास सर्वदा होता है। सफलता एवं समृद्धि की दिशा में अग्रसर होने हेतु उद्योगों एवं व्यावसायिक निगमों का भी ठीक इसी तरह एक निश्चित लक्ष्य होना आवश्यक है।

ऐसा उद्देश्य जो स्वार्थपूर्ण हो, बहुसंख्य व्यक्तियों का कल्याण-साधन न करता हो, वह न तो व्यक्ति का और न ही किसी औद्योगिक इकाई का उद्देश्य कहा जायेगा। स्वार्थी वृत्ति का अवलम्बन लेकर कोई भी परिपक्वता प्राप्त नहीं कर सकता, जो कि जीवन की सार्थकता हेतु परम आवश्यक है।

यह तथ्य स्मरणीय है कि किसी औद्योगिक इकाई का उद्देश्य ही वह मापदण्ड है जिससे उसके समाजहितैषी होने अथवा न होने की जानकारी मिलती है।

इस तरह किसी औद्योगिक इकाई की श्रेठता एवं उपयोगिता का एक मात्र मापदण्ड है – अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम लाभ की दिशा में उसका प्रयास। सरल अर्थों में उसकी समाज एवं राष्ट्र-कल्याण हेतु तत्परता।

किसी भी औद्यौगिक इकाई का एकमात्र आदर्श या उद्देश्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति, दरिद्रता-निवारण एवं राष्ट्रीय एकता के संवर्धन का प्रयास ही होना चाहिए। क्योंकि राष्ट्र एवं समाज की समृद्धि एवं सम्पन्नता के अनुपात में व्यक्ति एवं औद्योगिक इकाई भी समृद्ध होगी। अत: स्पष्ट शब्दों में समाज एवं राष्ट्रीय हित में किसी औद्योगिक इकाई का नि:स्वार्थ योगदान का परिणाम ही उसकी वास्तविक समृद्धि एवं सम्पन्नता का मापदण्ड है।

अत: प्रबन्धन के विद्यार्थी को किसी औद्योगिक इकाई में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका सुनिश्चित करने हेतु प्रबंधकीय कौशल एवं परिपक्वता के अर्जन की दिशा में विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिये। उसे लक्ष्यों के परिमाण की जगह गुणात्मक स्तर के उन्नयन पर ध्यान देना चाहिये। अधिक परिमाण में कार्य-सम्पादन के लिये उसे किसी भी परिस्थिति में कार्य की गुणात्मकता से कोई समझौता नहीं करना चाहिए। उसे अति अल्प समय में सुगम व अनुचित उपायों द्वारा अकूत सम्पत्ति-अर्जन के प्रलोभनों से स्वयं की सदैव रक्षा करनी चाहिये।

प्रबन्धन के विद्यार्थी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व नैतिकता के प्रति दृढ़ आस्थावान होना चाहिये। क्योंकि यही वह गुण है जो उसे हाथ में लिये गये प्रत्येक कार्य को सुचारू रूप से सम्पन्न करने की शक्ति एवं प्रेरणा सतत प्रदान करता रहेगा और जब व्यक्ति प्रस्तुत कार्य में तल्लीनता प्राप्त कर लेता है तब उसकी सफलता सुनिश्चत होती है। इस प्रकार परिक्वता समर्पण एवं ईमानदारी का रूप ग्रहण करती है।

आत्म-निर्भरता एवं आत्मानुशासन

सफल व्यावसायिक घरानों के इतिहास के अध्ययन से यह तथ्य स्पष्ट रेखांकित होता है कि सफलता उन्हीं व्यक्यिों ने प्राप्त की जो आत्म-निर्भर एवं आत्मानुशासित थे।

सरल शब्दों में आत्म-निर्भरता का अर्थ है – स्वयं पर विश्वास। आत्मविश्वास की कमी के रहते कितनी भी मात्रा में बाह्य सहायता व्यक्ति की सफलता में हेतु नहीं बन सकती। आत्मविश्वास से परिपूर्ण, दुर्दमनीय इच्छाशक्ति से सम्पन्न व्यक्ति की सहायता हेतु परिस्थितियाँ एवं परिवेश भी अनुकूलता धारण कर लेते हैं, 'ईश्वर उन्हीं का सहायक है, जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं – यह उक्ति अक्षरश: सत्य है। दैवी सहायता सर्वदा उपलब्ध है। वह नदी की सतह पर प्रवाहमान वायु की तरह है। ऐसे जहाज जिनके पाल खुले हैं, केवल वे ही इस प्रवाहमान वायु का सम्यक् उपयोग कर मंजिल की ओर तीव्रतापूर्वक अग्रसर होते हैं। यहाँ 'पाल खोलना' कार्य-निष्पादन अथवा लक्ष्य-सिद्धि हेतु आवश्यक आत्मनिर्भरता एवं आत्मानुशासन का परिचायक है।

आत्मानुशासन एवं आत्म-निर्भरता या स्वावलम्बन परस्पर अन्योन्याश्रित गुण हैं। स्वावलम्बी व्यक्ति अनिवार्यत: अनुशासित होता है। उसका मन एवं इन्द्रियों पर सम्यक् अधिकार होता है। वह इच्छानुसार अपनी आभ्यान्तरिक शक्तियों का दोहन कर निर्धारित लक्ष्य की सिद्धि में समर्थ होता है। दूसरी ओर, एक अनुशासित व्यक्ति तुलनात्मक रूप से अधिक स्वावलम्बी होता है तथा क्रमश: स्वावलम्बन में वृद्धि के साथ-ही-साथ वह उत्तरोत्तर अधिक अनुशासित होता जाता है।

हम देखते हैं कि सन्तुलित एवं सुगठित व्यक्तित्व का धनी व्यक्ति अपने प्रत्येक उद्यम में सफलता अर्जित करता है। इस तरह स्वावलम्बन एवं आत्मानुशासन व्यक्ति की परिपक्वता रूपी अट्टालिका के निर्माण एवं स्थायित्व में ईंट एवं गारे की तरह अपनी भूमिका निभाते हैं। न केवल व्यक्तिगत जीवन जीवन में अपितु औद्यौगिक इकाइयों एवं व्यावसायिक संस्थानों में भी स्वावलम्बन एवं आत्मानुशासन का होना अनिवार्य उपयोगी एवं अतिशय लाभकारी होता है।

अत: प्रत्येक प्रबंधक का यह एक महत्त्वपूर्ण दायित्व हो जाता है कि वह अपने कनिष्ठों एवं सहकर्मियों को स्वावलम्बन एवं आत्मानुशासन के विकास में प्रोत्साहित करे तथा उनकी सर्वविध सदैव सहायता करे। वास्तव में अनुशासित व्यक्तियों की संख्या के अनुपात में ही किसी औद्योगिक इकाई एवं व्यावसायिक संस्थान की सफलता एवं समृद्धि का मूल्यांकन किया जा सकता है। यह एक स्मरणीय तथ्य है कि किसी व्यावसायिक संस्थान एवं औद्यौगिक इकाई की असफलता का मौलिक कारण उसके कर्मचारियों में स्वावलम्बन एवं आत्मानुशासन की कमी होती है।

आधुनिक व्यवसाय प्रबन्धन का सफलता एवं समृद्धि के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सोपान परिपक्वता पर ध्यान न दिया जाना दुर्भाग्यपूर्ण है। आज की प्रबन्धन शिक्षा की मान्यता है कि प्रबन्धक अथवा कार्यपालकों का व्यक्तिगत जीवन उनका निजत्व है, उसमें हस्तक्षेप अवांछनीय है। किन्तु यह मान्यता दोषपूर्ण है। इस तरह की मान्यता रखने वाले प्रबंधकों के विषय में कहा जा सकता है कि उन्हें मानव-स्वभाव तथा उद्योग एवं समाज पर व्यक्ति के स्वभावगत सम्बन्धों के प्रभाव की सम्यक् जानकारी नहीं होती है।

अत: प्रबंधन के विद्यार्थी को आरम्भ से ही इस ओर दृष्टि रखनी चाहिये कि कहीं उसका व्यक्तिगत जीवन एवं सामाजिक जीवन दो परस्पर सर्वथा विलग जीवन-मूल्यों पर तो आधारित नहीं हैं, क्योंकि व्यक्तिगत एवं समाजिक जीवन परस्पर ताने-बाने की तरह अत्यन्त सूक्ष्मता से गूँथे हुये होते हैं। उनमें किसी तरह का अलगाव व्यक्तित्व रूपी वस्त्र के विघटन का कारण बन सकता है। अत: सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन दोनों ही क्षेत्रों में व्यक्ति को स्वावलम्बन एवं आत्मानुशासन के संवर्धन की दिशा में क्रियाशील रहना चाहिये।

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। जनवरी २००४ से आरम्भ करके जून २००५ अंक तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये लगातार प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

अहंकार – अभिमान

– ८६ –

बछड़े का 'हम्बा' 'हम्बा' नहीं, 'तूहू' 'तूहू'

बछड़े की दशा पर विचार करने से समझा जा सकता है कि 'मैं'-'मैं' – करने से कैसी दुर्गति होती है। बछड़ा 'हम्बा हम्बा' ('मैं'-'मैं') किया करता है। उसकी दुर्गति देखो।

बड़े होने पर, चाहे धूप हो या वर्षा, उसे सुबह से शाम तक हल में जुतना पड़ता है। कभी कसाई के हाथ पड़ा, तो वह उसे बिलकुल समाप्त ही कर डालता है। मांस लोगों के पेट में गया और चमड़े के जूते बने। आदमी उन पर पैर रखकर चलता है। इतने पर भी दुर्गति पूरी नहीं हुई। चमड़े से जंगी ढोल मढ़े गये और उसे लकड़ी से लगातार पीटा जाने लगा।

अन्त में उसकी अँतड़ियों को लेकर ताँत बनायी गयी। जब वह ताँत धुनिये के धनुए में लगा दी जाती है और वह रुई धुनता है, तब वह 'तू-ऊं, तू-ऊं' कहने लगता है। तब 'हम्बा-हम्बा' भूल जाता है। 'तू-ऊं, तू-ऊं' कहने पर तब कहीं छुटकारा पाता है। तभी जाकर उसकी मुक्ति होती है।

जीव भी जब कहता है – 'हे ईश्वर, मैं नहीं, तुम्हीं कर्ता हो – मैं यंत्र मात्र हूँ, तुम्हीं यंत्री हो', तभी वह संसार की यंत्रणाओं से छुटकारा पाता है। तभी उसकी मुक्ति होती है, फिर इस संसार के कर्मक्षेत्र में उसे नहीं आना पड़ता।

अहंकार अच्छा नहीं। 'मैंने किया' – यह अज्ञान से होता है। 'हे ईश्वर, तुम्हीं ने किया' – यही ज्ञान है। ईश्वर ही कर्ता हैं, अन्य सभी अकर्ता। अहंकार ही सारे दुखों का कारण है। जब तक अहंकार है, तब तक न ज्ञान होता है न मुक्ति।

कहना चाहिये – 'हे प्रभो, आप स्वामी हैं और मैं आपका सेवक हूँ; आप माँ हैं और मैं आपकी सन्तान हूँ।'

– ८७ –

अहंकार से सर्वनाश

एक शिष्य को अपने गुरु की अनन्त शक्ति में इतना विश्वास था कि वह अपने गुरुदेव के नाम का उच्चारण करते हुए, अपने विश्वास के बल पर ही नदी पर चलकर पार हो गया। देखकर गुरु ने सोचा – 'अच्छा, तो मेरे नाम में इतनी शक्ति है! मुझे तो अब तक यह पता ही नहीं था।' अगले दिन गुरु – 'मैं'-'मैं' – कहते हुए नदी पार होने गए, परन्तु पानी पर पैर रखते ही वे गोते खाने लगे और और शीघ्र ही डूब मरे!

विश्वास का फल अद्भुत होता है, परन्तु अहंकार से सर्वनाश ही होता है।

– ८८ –

शंकराचार्य और मूर्ख शिष्य

आचार्य शंकर का एक शिष्य बड़ा मूर्ख था। वह हमेशा उनकी नकल करता रहता। आचार्य जो करते, वह भी वैसा ही करता, शंकराचार्य कहते – 'शिवोऽहम्', तो वह भी कहता 'शिवोऽहम्'। परन्तु उसके भीतर गुरु के प्रति असीम श्रद्धा-भक्ति थी।

उसके भ्रम को दूर करने के लिए एक दिन शंकराचार्य उसे साथ लेकर एक लुहार की दुकान पर गए और वहाँ उन्होंने थोड़ा-सा गरम पिघला हुआ लोहा उठाया और उसे पी गये। इसके बाद उन्होंने इशारे से शिष्य को भी वैसा ही करने कहा। शिष्य के लिए भला यह कहाँ सम्भव था! वह भौचक्का-सा रह गया और तब उसकी समझ में यह बात आ गई कि – 'शिवोऽहम्' – बोलना हँसी-खेल नहीं है। उस दिन से उसने गुरु का अनुकरण करना छोड़ दिया।

महापुरुषों के उपदेश सुनकर अपने दोष-त्रुटियों को सुधारने की चेष्टा करनी चाहिए, परन्तु उनके प्रत्येक आचार-व्यवहार का अनुकरण करना उचित नहीं।

– ८९ –

जब नन्दी ने अपने दाँत दिखाये

एकमात्र ईश्वर ही कर्ता हैं, बाकी सभी उनके यंत्र की भाँति हैं, इसीलिए ज्ञानी कभी अहंकार नहीं कर सकता।

जिन्होंने 'शिव-महिम्न-स्तव' लिखा था, उन पुष्पदन्त को अहंकार हो गया था। परन्तु शिव के नन्दी ने जब उन्हें अपने दाँत दिखाये, तो उनका अहंकार चला गया। उन्होंने देखा – एक-एक दाँत उनके स्तव का एक-एक मन्त्र था।

इसका तात्पर्य यह था कि ये सब मंत्र अनादि काल से हैं, तुमने इनका उद्धार मात्र किया है।

– ९० –

अहंकार से आदमी का सिर फिर जाता है

थोड़ी-बहुत पुस्तकें पढ़कर ही लोगों में अहंकार समा जाता है। कालीकृष्ण ठाकुर के साथ ईश्वरीय चर्चा हुई। उसने कहा – "यह सब मुझे मालूम है।" मैं बोला – "जो दिल्ली हो आया है, क्या वह कहता फिरता है कि मैं दिल्ली हो आया? – क्या उसे इसके लिए घमण्ड हो सकता है? जो बाबू है, क्या वह कहता फिरता है, मैं बाबू हूँ?"

अहा, अहंकार से कैसे आदमी का सिर फिर जाता है! दक्षिणेश्वर के काली-मन्दिर की एक भंगिन थी। उसके शरीर पर दो-एक गहने थे। वह जिस रास्ते से आ रही थी, उसी से होकर आते हुए दो-एक आदमी उसकी बगल से निकल रहे थे। वह चिल्लाकर बोली, "ए, हट जा।"

जब एक साधारण व्यक्ति की यह हालत है, तो फिर अन्य लोगों के अहंकार का क्या कहा जाय!

पूर्व जन्मों के संस्कार

– ९१ –

जन्मजात प्रवृत्तियाँ अत्यन्त बलवान हैं

पिछले जन्मों के संस्कार कितने प्रबल होते हैं, सुनो – एक धोबी मरने के बाद अगले जन्म में एक राजा के घर में पैदा हुआ। राजकुमार के रूप में खेलते समय उसने अपने साथियों से कहा – "ये सब खेल अभी रहने दो, मैं बताता हूँ। मैं पेट के बल लेट जाता हूँ और तुम लोग मेरी पीठ पर कपड़े पटको!"

– ९२ –

बलात् मुसलमान बनाया गया हिन्दू

किसी राज्य में एक बड़ा भक्त हिन्दू था। वह सर्वदा जगदम्बा की पूजा-अर्चना और उन्हीं का नाम लेता रहता था। जब वहाँ मुसलमानों का राज्य हुआ, तब उन लोगों ने उसे पकड़कर मुसलमान बना लिया और कहा – "अब तू मुसलमान हो गया है। अब से अल्ला का नाम लिया कर, अल्ला का नाम जपा कर।" वह आदमी बड़े कष्टपूर्वक 'अल्ला-अल्ला' कहने लगा; परन्तु बीच में कभी-कभी अनजाने ही 'जगदम्बा' का नाम भी निकल पड़ता था। तब मुसलमान उसे मारने दौड़ते। वह कहता था – "दुहाई शेखजी, मुझे मारना नहीं, मैं तुम्हारे अल्ला का नाम लेने की बड़ी कोशिश कर रहा हूँ, परन्तु क्या करूँ, भीतर जगदम्बा समायी हुई हैं, जो तुम्हारे अल्ला को धक्के मारकर निकाल देती हैं।"

पुराने संस्कार आसानी से नहीं छूट सकते। उनके नष्ट होने में बहुत समय लगता है।

– ९३ –

देहधारण से दुख-सुख अपरिहार्य हैं

प्रारब्ध कर्मों का भोग होता ही है। जब तक वे हैं, तब तक देहधारण करना ही पड़ेगा। सुख-दुःख देह के धर्म हैं।

कवि कंकण की चण्डी में है कि कालूवीर को कैद की सजा हुई थी और उसकी छाती पर पत्थर रखा गया था। वह भगवती का वरपुत्र था, तो भी उसे यह दुःख भोगना पड़ा। देहधारण करने से ही सुख-दुःख का भोग करना पड़ता है।

श्रीमन्त भी बड़ा भक्त था। उसकी माँ – खुलना को भगवती कितना चाहती थीं! पर देखो, उस श्रीमन्त पर कितनी विपत्ति पड़ी! यहाँ तक कि उसे काटने के लिये श्मशान में ले जाया गया।

एक लकड़हारा परम भक्त था। उसे भगवती के साक्षात् दर्शन हुए। जगदम्बा उसके समक्ष प्रकट हुईं और उस पर बड़ी कृपा की, परन्तु इसके बावजूद उसका लकड़हारे का काम नहीं छूटा! उसे पहले की भाँति लकड़ियाँ काटकर ही अपनी आजीविका कमानी पड़ी। कारागार में देवकी को चतुर्भुज शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी भगवान के दर्शन हुए, पर तो भी उनका कारावास नहीं छूटा।

मुक्ति का मार्ग

– ९४ –

कृपा ही एकमात्र मार्ग

गृहस्थी में धर्म-जीवन क्यों नहीं होगा? अवश्य होगा, परन्तु यह बड़ा कठिन है।

बागबाजार के पुल पर से होकर आ रहा था। देखा कि उसे अनेक सांकलों से बाँधा है! एक सांकल टूटने से भी पुल का कुछ न होगा, क्योंकि वह और भी अनेक सांकलों से बँधा हुआ है। वे बचे हुए सांकल उसे खींचे रहेंगे।

इसी प्रकार गृहस्थों के अनेकानेक बन्धन हैं और ईश्वर की कृपा के बिना वे बन्धन नहीं कट सकते। ❑❑❑
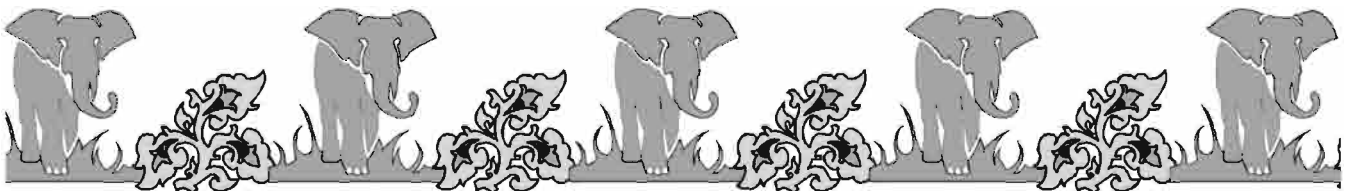
हिन्दू धर्म की रूपरेखा (२४)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओं के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

हिन्दुओं का दृष्टिकोण (उत्तरार्ध)

हिन्दुओं का सामाजिक सम्पर्क अधिकार नहीं अपितु कर्तव्य के ऊपर प्रतिष्ठित है। अधिकार का दावा और उसके बाद आनेवाले सत्ता तथा सम्मान की प्राप्ति के लिये प्रतियोगिता के मूल में प्राय: अदम्य कामना, अहंकार तथा जघन्य स्वार्थपरता विद्यमान रहती है। अत: इसमें आध्यात्मिक अवनति का खतरा होता है। हिन्दू शास्त्रों में समाज-विरोधी अन्याय के विरुद्ध खड़े होने का निर्देश अवश्य मिलता है, परन्तु अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य के प्रति अधिक सजग होने का निर्देश ही सर्वमान्य है। क्योंकि निर्दिष्ट कर्तव्यों का पालन करने से व्यक्ति का हृदय प्रसारित होता है और वह आध्यात्मिक उन्नति करता है। इसी कारण व्यक्ति के लिये निर्दिष्ट कर्तव्यों को उसका धर्म कहते हैं। इसी प्रकार पिता-पुत्र, पति-पत्नी, राजा-प्रजा आदि के आपसी सम्बन्ध अपने-अपने निर्दिष्ट धर्म की नींव पर आधारित हैं।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति के लिये कुछ वर्णाश्रमोचित कर्तव्य भी निर्धारित हैं – ये उसके स्वधर्म हैं। पूर्णत: स्वार्थ-केन्द्रित आवश्यकताओं की उपेक्षा करके दूसरों की सुख-सुविधा के लिये सेवा करना ही इस प्रकार के प्रत्येक कर्तव्य का तात्पर्य है। इस प्रकार त्याग और सेवा के माध्यम से प्रत्येक हिन्दू अपने हृदय का विस्तार करके धीरे-धीरे पूर्ण आत्म-विकास की ओर अग्रसर हो – यही उसके धर्म का विधान है। वैसे समस्त कामनाओं का त्याग करके भगवत्-उपासना बोध से अपने कर्तव्यों का सम्पन्न कर पाने से अति शीघ्र ही चरम लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है।[४] इस प्रकार हम देखते हैं कि निम्नतम प्राकृत अवस्था से उच्चतम विशुद्ध अवस्था तक हिन्दू जीवन का समग्र विस्तार, मानो त्याग और सेवा के क्रमिक साधना की एक ऐसी प्रणाली है, जो व्यक्ति को क्रमशः असंख्य विविधता के मूल में निहित ईश्वरीय एकता के दर्शन की ओर अग्रसर करा देती है।

पारमार्थिक एकता का पोषक यह त्याग एवं सेवामूलक धर्म और पारस्परिक भेद तथा द्वन्द उत्पन्न करनेवाले घृणा, ईर्ष्या, स्वार्थान्धता आदि के बीच जमीन-आसमान का भेद है। स्वार्थ-केन्द्रित व्यक्ति के संकुचित हृदय से ही घृणा, द्वेष आदि का जन्म होता है। अपने दिव्य स्वरूप के प्रति अचेत व्यक्ति जब अपने 'कच्चे मैं' को खूब बढ़ा-चढ़ाकर देखता है, तो उसका हृदय संकुचित हो जाता है। हृदय की यह संकुचित अवस्था आध्यात्मिक जीवन में परम बाधक है। इसीलिये हिन्दू लोग काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, ईर्ष्या आदि को शत्रु कहते हैं।

अनेकता तथा विविधता के बीच चिरन्तन अद्वय तत्त्व की खोज करनी होगी। इसके लिये निरन्तर सजग प्रयास की आवश्यकता है। इसी साधना की लीक पर हिन्दुओं की जीवन-धारा चलती है। इसी से हिन्दुओं की सांस्कृतिक वैशिष्ट्य का उद्भव होता है। इसी ने प्राचीन हिन्दू समाज में एक प्रबल सप्राणता की बाढ़ ला दी थी। इसी भाव से अनुप्राणित होकर उस काल का सजीव तथा सतेज हिन्दू समाज ने अगणित विदेशी जातियों तथा सम्प्रदायों की ओर बाँहें फैलाकर उन्हें आलिंगन करने की सामर्थ्य प्राप्त की थी। गोले-बारूद की सहायता से कभी हिन्दू संस्कृति का प्रचार नहीं हुआ। चित्त की पवित्रता तथा ईश्वर-दर्शन से उत्पन्न विश्वप्रेम ही हमारे पूर्वजों का एकमात्र अस्त्र था। विविधता के मूल में निहित एकता की अनुभूति ने ही समाज-देह में आत्म-प्रसारण की असीम शक्ति प्रकट की थी, जिसके फलस्वरूप हिन्दू समाज ने प्रबल उद्यम दिखाते हुए इस देश के आदिम निवासियों से लेकर बैक्ट्रिया के यूनानी, शक, हूण तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के सुदूर अंचल के निवासियों तक, कितनी ही जातियों तथा उपजातियों के सांस्कृतिक उन्नयन में महान् योगदान किया। इसी अनुभूति के बल पर हिन्दू धर्म ने एशिया में लगभग सर्वत्र और सम्भवतः पाश्चात्य सभ्यता की जन्मभूमि यूनान के ऊपर भी उसका मंगलमय सांस्कृतिक प्रभाव फैलाने में सक्षम हुआ था।

हिन्दुओं के सांस्कृतिक अभियान का मार्ग बड़ा ही सरल था। मूलतः एकता में विश्वासी हिन्दुओं की दृष्टि में एक ऐसी अद्भुत उदारता थी, जिसके फलस्वरूप वे लोग दूर के लोगों को भी 'आत्मीय मित्र' बना लेते थे, विजातियों को प्रेम तथा सेवा के द्वारा अपना बनाकर उन्हें सभ्यता के उच्चतर सोपानों पर उन्नीत कर लेते थे। विदेशियों का नाश करना या उनकी सांस्कृतिक सम्पदा को बरबाद करने की बात तो उनकी कल्पना में भी नहीं आती थी। प्रत्येक जाति, उपजाति और सम्प्रदाय उनके लिये ईश्वर की एक-एक विशेष अभिव्यक्ति

४. गीता, १८/४६

थी। निश्चय ही वे सभी एक ही परम पवित्र पूजनीय सत्ता थीं। उनकी संस्कृति भी तो निश्चय ही जैविक सत्ता के ही समान अनेक शताब्दियों के क्रमविकास से उत्पन्न सम्पूर्ण मानवीय सभ्यता की एक विशेष अंक थी। प्राचीन हिन्दुओं की प्रत्येक विदेशी टोली तथा उसकी सांस्कृतिक सम्पदा की मर्यादा तथा सार्थकता के विषय में ऐसी ही उदार धारणा थी।

इसीलिये उस काल के हिन्दूगण किसी भी आगन्तुक विजातीय संस्कृति का सादर स्वागत करके बड़ी सावधानी के साथ उसका उन्नयन कर देते थे। वे विजातियों को हिन्दू धर्म के मूल भावों तथा आदर्शों में अनुप्राणित करके अपने समाज में अंगीकार कर लेते थे। इस भावादर्श के साथ ही आगन्तुकों के धार्मिक क्रिया-कलाप तथा सामाजिक रीति-नीतियों का सामंजस्य करके उन्हें सर्वांगीण रूप से हिन्दू धर्म में जोड़ लिया जाता था। इस पद्धति के फलस्वरूप क्रमश: अनेक तथा विविध प्रकार के धर्मानुष्ठान तथा आचार हिन्दू धर्म में स्वीकृत हुए और इस प्रकार यह सभी धर्मों के एक संक्षिप्त संकलन में परिणत हो गया। उस काल के हिन्दू धर्म में विजातीय भावों को अपनाकर आत्म-विस्तार करने की क्षमता विद्यमान थी। यही तो जीवन का लक्षण है। जब तक हिन्दू समाज में विविधता के मूल में विद्यमान एकता के बारे में बोध विद्यमान था, तब तक सचमुच ही उसमें प्रबल सजीवता थी।

जब-जब यह बोध लुप्त हुआ है, तब-तब हिन्दू समाज में विषाद की छाया का आगमन हुआ है, इसके सबल धर्म में विकलता आयी है। इस प्रकार आध्यात्मिक निर्जीवता के दिनों में हिन्दू लोग अपने मूलभूत पारमार्थिक एकता के बारे में अचेतन होकर कट्टर, संकीर्ण, साम्प्रदायिक बुद्धि से आच्छन्न होकर हिन्दू समाज को अनेक भागों में बाँटने और विदेशी लोगों को अस्पृश्य की श्रेणी में रखने में प्रवृत्त होते हैं। तब सत्ता तथा सम्मान के लिय प्रतियोगिता आरम्भ होती है। इसके फलस्वरूप ईर्ष्या-द्वेष के प्रकोप से समाज जर्जरित हो जाता है। तब वे लोग आध्यात्मिक उन्नति के मूल सूत्र – त्याग और सेवा को महत्त्व देने की जगह आचार आदि धर्म की बाह्य बातों को लेकर उन्मत्त हो जाते हैं। इस प्रकार वे क्रमश: हिन्दू धर्म की प्राचीन भावधारा तथा आदर्श से च्युत होकर महान् तथा उदार हिन्दू धर्म को विकृत कर डालते हैं।

वैसे, सौभाग्यवश समाज की इस प्रकार की शोचनीय अवस्था कभी स्थायी नहीं होती। इसके बाद ही निश्चित रूप से आध्यात्मिकता का ज्वार आता है। वर्तमान काल में हम एक ऐसी ही आध्यात्मिक बाढ़ के सम्मुख खड़े हैं। हमारे सांस्कृतिक जीवन का एक भाटा अभी-अभी समाप्त हुआ है, महाप्लावन आता हुआ दिखाई दे रहा है। कई शताब्दियों की तन्द्रा के बाद हिन्दू समाज अपने धर्म के मूल तत्त्वों के प्रति पुन: सचेत होता जा रहा है। इसीलिये पुन: हिन्दू धर्म की अपनी आदिकालीन सबलता का सुस्पष्ट परिचय मिलना आरम्भ हो गया है।

आधुनिक हिन्दुओं की दृष्टि उपनिषदों के जीवनदायी सन्देशों की ओर आकृष्ट हो रही है। अनेक शताब्दियों के साम्प्रदायिक तथा श्रेणीगत विवाद के कोलाहल को दबाते हुए प्राचीन ऋषियों की तुरही-ध्वनि क्रमश: स्पष्टतर होती हुई हिन्दुस्तान के गगन-पवन में फैलती जा रही है –

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

– "इस अनित्य पृथ्वी पर जो कुछ भी विद्यमान है, उन सबको परमेश्वर से ढँक देना चाहिये। त्याग की सहायता से उनका उपभोग करो – किसी के भी धन का लोभ मत करना।"

सभी वस्तुओं के भीतर और बाहर एक ही परमात्मा का दर्शन करना होगा। हिन्दू नर-नारी एक बार फिर एकत्व की पृष्ठभूमि में विविधता को देखते हुए प्रत्येक रूप के पीछे एकता की सृष्टि करने की अपनी बहु-कालव्यापी साधना में जुट गये हैं। मानव समाज के प्रत्येक क्षेत्र में विविधता का सौन्दर्य तथा सार्थकता की मर्यादा प्रदान करने की एक नवीन प्रेरणा उनमें दिन-पर-दिन जागती जा रही है।

विविधता मानव-सभ्यता के ऐश्वर्य का द्योतक है, यह बात धर्म के क्षेत्र में भी क्रमश: स्वीकृत होती जा रही है। जैसे सभी छोटे-बड़े लोग किसी एक ही नाप का कुरता नहीं पहन सकते, ठीक वैसे ही कोई एक ही धर्म सबके लिये उपयोगी नहीं हो सकता। जैसे कोई भी परिवार प्रत्येक व्यक्ति के लिये उसकी आवश्यकता के अनुसार वस्त्रों की व्यवस्था करता है, वैसे ही मानव-परिवार के भिन्न-भिन्न श्रेणी की रुचि तथा सामर्थ्य के अनुसार विभिन्न धर्मों की आवश्यकता है। रुचि तथा सामर्थ्य की भिन्नता को एक अपरिहार्य प्राकृतिक तत्त्व के रूप में स्वीकार करके निश्चित रूप से तदनुसार व्यवस्था करनी होगी। इसीलिये विश्व में विभिन्न धर्मों की स्थापना सार्थक है। अपनी प्रधानता स्थापित करने के लिये उनके बीच पारस्परिक कलह बिल्कुल निरर्थक है। प्रत्येक धर्म पूर्णता रूप एक ही चरम लक्ष्य तक पहुँचाने का एक-एक सच्चा मार्ग है; और मानव-समाज की किसी-न-किसी अंश के लिये प्रत्येक की ही उपयोगिता है। हिन्दू ऋषि-मुनिगण बारम्बार यही शिक्षा दे गये हैं। कुछ काल की विस्मृति के बाद श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा उपदेशों के आलोक में हिन्दू लोग इस विषय में पुन: सचेतन हुए हैं। अपने धर्म में निष्ठा को अवश्य अक्षुण्ण रखना होगा; परन्तु अन्य धर्म भी युगों की साधना द्वारा आविष्कृत एक ही परम लक्ष्य तक पहुँचाने के विभिन्न पथ हैं, यह बात स्मरण रखकर उनके प्रति श्रद्धा रखनी होगी। प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय

का यही कर्तव्य है और यही विश्वास वर्तमान हिन्दू समाज में द्रुत वेग से फेलता जा रहा है। धर्म के क्षेत्र में विविधता में निहित एकता की धारणा निश्चय ही समस्त साम्प्रदायिक संघर्षों का नाश करेगी।

सामाजिक क्षेत्र में भी ऐसी समन्वय-दृष्टि जादू के समान कारगर सिद्ध होगी। इसके प्रभाव से हिन्दू समाज नवीन बल से युक्त होकर समग्र मानव-जाति की आध्यात्मिक उन्नति में यथेष्ट सहायता कर सकेगा। सत्ता और सम्मान के लिये घृण्य प्रतियोगिता को छोड़कर त्याग और सेवा की कगारों के बीच प्रवाहित प्राचीन जीवनधारा को पुनरुज्जीवित करना होगा। पुन: अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य की महत्ता के विषय में सचेत होना होगा और इसी बोध पर व्यक्तियों तथा समूहों के बीच आपसी सम्पर्क की स्थापना करनी होगी। पुत्र हो या भृत्य – प्रत्येक व्यक्ति के भीतर नारायण विराजित हैं, इस विश्वास के साथ उनके प्रति श्रद्धापूर्ण आचरण करना होगा। समाज में अनेक वर्ण हो सकते हैं, परन्तु उनके बीच घृणा और द्वेष रहने से काम नहीं चलेगा। प्रत्येक वर्ण का व्यक्ति श्रद्धास्पद है। समाज में उसका विशेष स्थान तथा सार्थकता है। समाज के सर्वांगीण कल्याण हेतु प्रत्येक वर्ण के अनिवार्य कर्तव्य हैं। प्रत्येक वर्ण को सांस्कृतिक प्रगति का अवसर देना होगा। अस्पृश्यता आदि निष्ठुर आचारों को चिरकाल के लिये दूर कर देना होगा। हिन्दू धर्म के मूलभूत तत्त्वों के आलोक में इसी प्रकार समाज के आमूल सुधार की आवश्यकता है; और इस बात के स्पष्ट लक्षण दिख रहे हैं कि वर्तमान हिन्दू नर-नारी इस आवश्यकता के विषय में सचेत भी हो रहे हैं।

अब हिन्दू लोग केवल अपने ही समाज का सुधार करके चुप नहीं बैठेंगे। इस प्रकार समाज के आमूल सुधार के फलस्वरूप नवीन बल से युक्त होकर वे लोग विविधता में निहित एकता की दृष्टि को अपने समाज के दायरे के बाहर भी प्रसारित करेंगे। लगता है कि उनका नि:स्वार्थ सेवामूलक धर्म पृथ्वी पर सर्वत्र फैल जायेगा। पृथ्वी पर अनेक विविध जातियाँ, उपजातियाँ, राष्ट्र आदि रह सकते हैं और उनके सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक जीवन के ढाँचे भी अनेक तथा विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। मानव-समुदायों से जुड़ी ये विविधताएँ निश्चय ही मानव-समाज के सर्वांगीण श्री तथा समृद्धि की पोषक हैं। प्रत्येक के माध्यम से श्रीभगवान स्वयं ही रूपायित हुए हैं। प्रत्येक उन्हीं से जन्मा एक पवित्र प्रकार है। प्रत्येक का आविर्भाव किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुआ है। मानव-जाति के उत्कर्ष हेतु प्रत्येक के पास देने को कुछ सारवान तत्त्व है। हिन्दू शास्त्रों द्वारा प्रचारित विभिन्न मानवीय समुदायों के मूल में जो ईश्वरीय एकता विद्यमान है, उसकी उपेक्षा से अब काम नहीं चलेगा।[६]

कोई भी घृणा, उत्पीड़न या ईर्ष्या का पात्र नहीं है। यदि सामर्थ्य हो, तो सबके मार्ग की बाधाओं को दूर करके सबकी उन्नति में सहायता करना होगा। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में जाति-वर्ण-निरपेक्ष जनगण की नि:स्वार्थ सेवा करना ही हमारे धर्म का निर्देश है। यही हमारा धर्म है। इस धर्म को केवल हिन्दू समाज की सीमा में आबद्ध न रखकर पृथ्वी के सभी अंचलों में इसका अनुष्ठान करना होगा। 'म्लेच्छ' तथा 'यवन' – ये दोनों शब्द घृणा तथा दम्भ के द्योतक हैं और हिन्दू भावधारा के साथ बिल्कुल भी मेल नहीं खाते। वैसे प्रारम्भ में इन दोनों शब्दों के अर्थ निर्दोष थे। परन्तु सम्भवत: किसी आध्यात्मिक अवसाद के युग में इन शब्दों के साथ विजातियों के प्रति घृणा तथा तुच्छता का भाव जुड़कर इनके अनुचित अर्थ प्रचलित हो गये। जो हिन्दू सभी प्राणियों में आत्मा को और आत्मा में सभी प्राणियों को देखा करते थे, उन्हीं के आदर्शच्युत वंशधर इन दो शब्दों का दुरुपयोग करके अपने गर्व से फूले हुए संकीर्ण तथा स्थूल बुद्धि का परिचय दे रहे हैं। आशा है कि निकट भविष्य में हिन्दू नर-नारी बुरे अर्थों से दूषित 'म्लेच्छ' तथा 'यवन' – इन दोनों शब्दों को त्यागकर प्रत्येक व्यक्ति को नारायण-बोध से श्रद्धा करना सीखेंगे। प्राचीन उपनिषदों के मर्मस्पर्शी उदार सन्देश से प्रेरित होकर हिन्दू नर-नारी नि:स्वार्थ सेवा के माध्यम से विभिन्न मानव-समुदायों को उनमें अन्तर्निहित एकता के बारे में सचेत करके जगत् में एक अभूतपूर्व सामंजस्य सृष्टि करने में समर्थ हैं। सम्भवत: इसी महान् उद्देश्य को पूरा करने हेतु हिन्दू समाज आज भी जीवित है। ❑❑❑

६. "वस्तुत: सभ्यता में भिन्नता है – वह विविधता ही विधाता को अभिप्रेत है। इस भिन्नता के बीच ज्ञानोज्ज्वल सहृदयता के साथ आपस में प्रवेश कर पाने से ही इस विविधता की सार्थकता है। जो शिक्षा तथा अभ्यास इस प्रवेश का द्वार अवरुद्ध कर देता है, वह बर्बरता का सोपान है। – समाजभेद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर
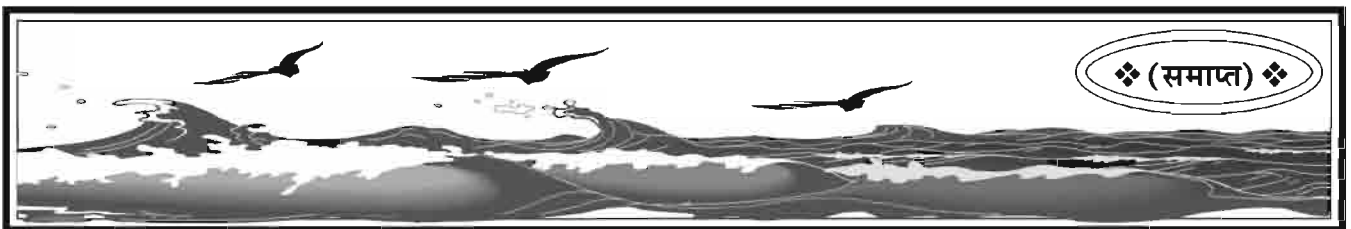
आत्माराम की आत्मकथा (२७)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसके अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

वहाँ (मर्दानपुर में नर्मदा-तट पर) अच्छी तरह था। दिन आनन्दपूर्वक ही कट रहे थे, परन्तु वह महामाया को सहन नहीं हुआ। एक बार उधर के एक ब्राह्मण जागीरदार २-३ दिनों के लिये मुझे अपने गाँव ले गये। वे अच्छे भक्त थे, साल में ९-१० हजार की आमदनी थी, परन्तु चाल-चलन बिल्कुल सीधा-सादा था। संक्षेप में कहें तो वे तामझाम से रहित, शान्त-स्वभाव तथा सात्त्विक प्रकृति के व्यक्ति थे।

दूसरे दिन रात में दो खाटों पर हम दोनों विश्राम करते हुए वेदान्त-चर्चा कर रहे थे। उसी समय एक नौकर आकर बोला – "अमुक मियाँ साहब आये हैं। रात में रहेंगे।" सुनते ही वे हड़बड़ा कर उठ पड़े और बोले – "अभी आता हूँ, स्वामीजी !" वे लगभग एक घण्टे बाद लौटे। इस दौरान मैं लेटा हुआ उनके प्रश्न की बात ही सोच रहा था।

– "स्वामीजी, सो गये क्या?"

– "नहीं, आइये।"

बैठते ही वे पिछले प्रसंग पर आ गये। उसके समाप्त हो जाने पर सोने की तैयारी करते हुए मेरे मन में थोड़ी उत्सुकता होने से मैंने पूछा – "कौन-से मियाँ साहब आये हैं।"

– "अरे मत पूछिये ! ये हैं एक पुलिस-पटेल (हेड कान्स्टेबल)। उनके भोजन, हुक्का आदि की व्यवस्था करके आया हूँ।"

– "कितना महीना पाते हैं ये?"

– "नौ रुपये।"

मैंने कहा – "आप एक नौ रुपये के पुलिस-पटेल के लिये इतने परेशान होकर यहाँ से गये और हुक्के आदि की व्यवस्था करके तब लौटे। मेरा तो शरीर जल रहा है। यह क्या? आप एक जागीरदार हैं। इच्छा मात्र से ही तो नौकरों के द्वारा वह कार्य करवा सकते थे।"

वे बोले – "स्वामीजी, यह बात क्यों भूलते हैं कि यह देशी राज्य है ! यदि मैं उस मियाँ के सन्तोष की व्यवस्था न करूँ, तो यही नौ रुपये का नौकर किसी छोटी-सी बात के लिये बीच बाजार में मेरा अपमान कर सकता है। इससे उसका कुछ भी नहीं होगा। इसलिये ...।"

मैं – "यह क्या कहते हैं? मुझे तो इस प्रकार की गुलाम होकर रहने की अपेक्षा राज्य छोड़कर चले जाना या निर्धनता का वरण कर लेना कहीं अच्छा प्रतीत होता है।

वे – "कहाँ जाऊँगा, स्वामीजी? पेट भी तो साथ ही जायेगा। और इसी मकान में मेरे पूर्वजों ने निवास किया है, यहाँ के प्रत्येक रास्ते-मैदान से उनकी स्मृति जुड़ी हुई है, इसीलिये इसे छोड़कर जाने की इच्छा नहीं होती। अभी कुछ दिनों पहले इसी व्यक्ति ने एक जागीरदार पर गलत आरोप लगाकर भरे बाजार में उसका अपमान किया। यहाँ पर मान-सम्मान की आशा करना व्यर्थ है। तथापि हमारी बेगम साहबा बड़ी दयामयी हैं, माँ-जैसी हैं, परन्तु उनके अधिकारी लोग वहाँ तक किसी को पहुँचने ही नहीं देते। यही देखिये न, पिछले दो सालों से अच्छी फसल नहीं हुई। गरीब लोग अन्न के अभाव में कष्ट पा रहे हैं। अधिकांश लोग दिन में केवल एक बार खाकर किसी प्रकार जीवित हैं। लेकिन रेवेन्यू अधिकारी निरन्तर लगान वसूलते जा रहे हैं। सैकड़ों अर्जियों से भी कोई काम नहीं हो रहा है – कोई भी इन गरीबों की सुन नहीं रहा है। बहुत-से लोगों के बैल आदि नीलाम हो चुके हैं और यदि एक महीने के भीतर रुपये न जमा कर सके, तो शीघ्र ही बाकी के भी नीलाम हो जायेंगे। बैलों को बेच डालने के बाद ये लोग फिर कैसे खेती-बारी करेंगे, उसकी भी चिन्ता इन लोगों को नहीं है। हाहाकार मच गया है, स्वामीजी ! सब कर्मों का फल है। बताइये, खूब पाप न किया हो तो ऐसा अकाल क्यों पड़ेगा?"

मैं और कुछ न बोलकर चुपचाप पड़े-पड़े सोचने लगा – "अहा, क्या ही अत्याचार है ! मनुष्य कैसे अपने ही सम्बन्धियों पर अत्याचार कर-कर के उन्हें मारता है ! देख रहे हो कि गरीबों के पास कुछ भी नहीं है, तो भी टैक्स चाहिये, लगान चाहिये ! अरे, इन लोगों में समृद्धि होने से तेरा ही तो कल्याण होगा, तेरी ही तो शोभा होगी, तेरा ही तो ऐश्वर्य होगा ! ठीक है, राजा तो अपने कान से ही देखता है, उनकी आँखें हों तो भी नहीं के समान ही हैं, क्योंकि आँखों का उपयोग वे दूसरी ओर ही करना सीखते हैं। बचपन से ही ये लोग जैसी शिक्षा पाते हैं और सत्ता का मद – ऐश्वर्य की मादकता उन्हें वैसा ही बना देती है; नीचे की ओर, दुखी-निर्धनों की ओर, साधारण प्रजा की ओर ध्यान से देखने ही

नहीं देती। जो कुछ भी करते हैं, दीवान और उनके अधीनस्थ धनलोलुप कर्मचारीगण ही करते हैं। ले आओ रुपये, ले आओ और ले आओ ! इसके अतिरिक्त वे लोग और कुछ भी नहीं जानते। इसके फलस्वरूप ये गुलाम लोग उन रुपयों को येन-केन-प्रकारेण संग्रह करके ले आते हैं और जमा कर देते हैं। बहुधा वे बलपूर्वक इन गरीबों से रुपये वसूल करके ले जाकर जमा करते हैं। नहीं तो नौकरी ही चली जायेगी। नौ–क–री ! ओह ! नौकरी मनुष्य को उसका धर्म भुलवा देती है, उसके हृदय को सुखाकर कठोर बना देती है। कर्तव्य की दुहाई देकर वह तरह-तरह के अमानुषिक कर्म करता है – जुल्म करता है, उत्पीड़न करता है, लूट करता है, खून भी करता है – जनसंहार ! और यह सब उसका कर्तव्य हो जाता है। ओह ! यह नौकरी तो मनुष्यत्व का नाश ही कर देती है। श्रीरामकृष्ण ने क्या इसीलिये निरंजन महाराज (स्वामी निरंजनानन्द) से कहा था – "ठीक है, तू अपनी माँ के लिये नौकरी कर रहा है, नहीं तो मैं तेरा मुख तक नहीं देख पाता?" और राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) से कहा था – "यह सुनने की जगह कि तू किसी की नौकरी करता है, बल्कि यह सुनना पसन्द करूँगा कि तूने ईश्वर के लिए गंगा में कूदकर प्राण दे दिये।" नौकरी के विचार मात्र से ही उन्हें कैसी घृणा थी ! कैसी वितृष्णा थी ! वे नववेद के कर्ता हैं। वे यदि मनुष्य बनने का – मुक्त होने का मार्ग न दिखायें, तो और कौन दिखायेगा? दासत्व की – सर्व प्रकार के दासत्व की शृंखला तोड़ने के लिये ही तो उनका आगमन हुआ है। इस गुलाम जाति को स्वातंत्र्य का मार्ग दिखाने के लिये – शारीरिक तथा मानसिक स्वातंत्र्य का मार्ग दिखाने के लिये उनका आगमन हुआ है। राजा के कार्य में मनुष्यत्व खोकर पशुत्व आ गया है। वह केवल शरीर से ही मनुष्याकार है, भीतर बृहत् पशु बैठा हुआ है। कितने हीनचेता हैं ये ! इनकी मनोवृत्ति कितनी निकृष्ट हो गयी है ! कितने ! कितने लोग इसके प्रभाव से अपने को मुक्त रखने में समर्थ होते हैं ! कितने लोग ! – अत्यल्प लोग ही तो ! अरे भाई, मान लिया कि पेट के लिये शरीर को गुलाम करना पड़ा है; परन्तु मन-बुद्धि, विचार-शक्ति सब कुछ को गुलाम क्यों बनायेंगे? क्या भीतर से स्वतंत्र नहीं रहा जा सकता? उस ऐतिहासिक घटना का स्मरण हो आता है – विश्वविख्यात प्रचण्ड-प्रतापी सिकन्दर महान् के समक्ष मकदूनिया के दुर्दम्य, तेजस्वी दस्यु को जंजीरों में बाँधकर लाया गया है। सिकन्दर शाह ने कहा – "यदि तुम मेरी अधीनता स्वीकार नहीं करोगे, तो चिर काल तक – आजीवन इसी प्रकार शृंखलाबद्ध रहोगे।" तथाकथित दस्यु (क्योंकि वस्तुत: वह डाकू नहीं, बल्कि एक छोटा स्वतंत्रता-प्रिय राजा था) ने सिर उठाकर कहा – "आप मेरे इस शरीर को ही शृंखलाबद्ध करके रख सकेंगे, परन्तु अन्तर से तो मैं चिर-स्वाधीन ही रहूँगा – किसी भी हालत में अधीनता स्वीकार नहीं करूँगा। क्या आप मेरी आन्तरिक स्वाधीनता से मुझे वंचित कर सकेंगे?" उसकी इस तेजोमयी वाणी पर प्रसन्न होकर सिकन्दर शाह ने उसे तत्काल शृंखला से मुक्त करके मित्रता के बन्धन में आबद्ध कर लिया था।

सिकन्दर एक सच्चा वीर था, इसीलिये एक अन्य वीर का मनोभाव को समझ पाने में सक्षम हुआ था। हम लोगों में वह भाव क्यों नहीं आता? शरीर पराधीन हुआ है, इस कारण हमने मन को भी पराधीन – गुलाम कर डाला है। हाय, कब हममें यह सुबुद्धि जागेगी। देह चाहे जिस अवस्था में भी क्यों न हो, कब हम अन्तर से पूर्ण स्वतंत्रता का उपभोग करने में सक्षम हो सकेंगे ! हे जगदम्बे, कब वह दिन आयेगा?"

इसके बाद भोर के समय केवल जरा-सी नींद हुई। मन में शान्ति नहीं थी। उसी दिन भोजन आदि के बाद मर्दानपुर लौटा और अगले दिन बड़े सबेरे भोपाल के लिये रवाना हो गया। साथ में और भी दो लोग थे। इस बार जंगल में विशेष कोई घटना नहीं हुई। संध्या के बाद पूर्वोक्त स्टेशन पर पहुँचा और रात की गाड़ी से चलकर सुबह भोपाल पहुँचा। वहाँ प्रधानाचार्य त्रिवेदी का अतिथि हुआ। वे तो मुझे देखते ही अवाक् रह गये।

बोले – "यह क्या स्वामीजी ! आप तो तपस्या करने गये थे, सहसा चले क्यों आये? बात क्या है?"

मैं सब सुनाकर बोला – "निर्धन किसानों की रक्षा हेतु क्या कुछ कर सकेंगे? इसी हेतु मैं आपके पास आया हूँ।"

त्रिवेदी – "महाराज, यह तो बड़ा कठिन कार्य है। तो भी चलिये मैं आपको रेवेन्यू दीवान साहब के पास ले चलता हूँ। उन्हीं को सब कहिये। अच्छे – धार्मिक व्यक्ति हैं। परन्तु मैं तो आपको उनके पास पहुँचाकर लौट आऊँगा, मेरा वहाँ उपस्थित न रहना ही ठीक होगा। आप तो जानते ही हैं कि रियासत के भीतर बड़ी सावधानी के साथ रहना पड़ता है।"

वे मुझे दीवान के घर ले जाकर उनसे मिलाकर लौट गये। कुशल प्रश्न आदि के बाद मेरे आगमन का कारण पूछते ही मैंने स्पष्ट रूप से सब कुछ कह दिया और बोला – "उल्टे राजा की ओर से ही गरीब लोगों को सहायता पहुँचाना उचित है, परन्तु देख रहा हूँ कि इसके विपरीत हो रहा है। आप बुद्धिमान धार्मिक व्यक्ति हैं। आपके रहते ऐसा होना अत्यन्त दुख की बात है। इसीलिये मैं आया हूँ। बेगम -साहबा से कहकर नीलाम आदि बन्द करवाइये। टैक्स पूरी तौर से माफ नहीं कर सकते हों, तो जब अगले साल उनके पास पर्याप्त अन्न होगा, तब अदा कर देंगे। बैलों का नीलाम तो तत्काल रुकवाइये। निर्धन किसानों की उदरपूर्ति के एकमात्र अवलम्बन को नष्ट मत करिये। पहले से ही उन पर

सब कुछ बिक चुका है, उसमें और भी वृद्धि करके उनका सर्वनाश मत कीजिये। मनुष्य के जैसा व्यवहार कीजिये – उतना-सा तो चाहिये ही।''

रेवेन्यू दीवान – ''परन्तु महाराज, यह तो स्वयं बेगम साहबा का ही हुक्म है। मैं हुक्म का दास हूँ, बोलिये क्या कर सकता हूँ?''

मैं – ''महाशय, कृपा करके जरा-सा बेगम साहबा से बोलकर ही देखिये न! उन्होंने साधारण रूप से आदेश दिया है, परन्तु मेरा विश्वास है कि यदि उन्हें पता चले कि प्रजा को इतना कष्ट है, तो वे माफ कर देंगी। और सम्भव है कि कुछ सहायता भी करें।''

रेवेन्यू दीवान – ''मैं तो उनका नौकर हूँ, मैं भला यह बात उनसे कैसे कह सकता हूँ। मेरा तो कर्तव्य है – उनके आदेश को क्रियान्वित करना।''

मैंने देखा कि इस गुलाम से ज्यादा बातें करना व्यर्थ है, शक्तिक्षय मात्र है। उन्होंने मुझे विदा करने के सुर में कहा – ''चुपचाप तपस्या करना ही अच्छा है। भगवान को लेकर रहिये, इन सब झंझटों में क्यों पड़ते हैं?'' आदि आदि।

– ''महाशय, आपके उपदेश के लिये धन्यवाद! आपने भगवान और तपस्या के विषय में जैसा समझा है, मैं ठीक वैसा ही नहीं समझता। इसलिये इस विषय में हम दोनों के बीच मतभेद होना सम्भव है।''

इतना कहकर मैंने उनसे विदा ली और मास्टरजी के घर गया। वे मेरी प्रतीक्षा ही कर रहे थे। जो चर्चा हुई थी और जो उत्तर मिला था, वह बताया। सुनकर वे बोले – ''सचमुच ही स्वामीजी, मैं तो बहुत सोचने के बाद भी यह निश्चित नहीं कर पा रहा हूँ कि इस विषय में क्या किया जा सकता है!''

मैं बोला – ''बेगम साहबा को एक पत्र लिखता हूँ। सारी हकीकत जानने पर हो सकता है कि ...।''

– ''इसमें सन्देह है कि वह उनके पास तक पहुँच भी सकेगा या नहीं।''

– ''क्यों?''

– ''सो तो नहीं कह सकता, पर वास्तविकता यही है।''

– ''आप तो नवाबजादा लोगों को पढ़ाने जाते हैं। आप बिना कुछ कहे अपने हाथ से इसे दे दीजियेगा।''

– ''नहीं स्वामीजी, यह शायद ठीक procedure (प्रक्रिया) के अनुसार नहीं होगा। वे नाराज हो सकते हैं और मुझे बरखास्त भी कर सकते हैं। इससे कोई लाभ न होगा।''

– ''अच्छा, तो ऐसा कर सकते हैं? सारी बातें सहज भाव से नवाबजादाओं को सुना देंगे और थोड़ा ऐसा संकेत दे देंगे कि वे लोग वे बातें बेगम साहबा से कह दें।''

– ''हाँ, यह तो सम्भव है! यह तो कर सकूँगा स्वामीजी! कल ही कहूँगा। यदि नहीं कर सका, तो जैसे भी हो आपका पत्र भेजने की कोई-न-कोई व्यवस्था अवश्य करूँगा।''

ये बातें हो रही थीं, तभी रेवेन्यू दीवान का आदमी मास्टरजी को बुलाने आ गया। मैंने अपनी योजना के विषय में उनसे कुछ भी कहने से मना कर दिया। काफी रात गये वे लौटे। बोले – ''रेवेन्यू दीवान डर रहे हैं कि इन चेष्टाओं के फलस्वरूप कहीं वे किसी कठिनाई में न पड़ जायँ। क्योंकि उन्हीं की ओर से आप वहाँ गये हैं, यह बात तो छिपी नहीं रहेगी और तब उन्हीं को संकट में पड़ना होगा, आदि आदि। मैं कहता हूँ – मैं भी तो शामिल हूँ। यदि वैसा कुछ हो, तो मेरा भी होगा। परन्तु मेरा विश्वास है कि वे ऐसा कुछ कदापि नहीं करेंगे, जिससे हम लोगों का कोई अनिष्ट होने की सम्भावना हो। निश्चय ही नहीं करेंगे।''

मैंने कहा – ''परन्तु देखिये, मैं हजारों दीन-दुखी भाइयों का दुख दूर करने की चेष्टा छोड़ नहीं सकूँगा, परन्तु इससे यदि आप लोगों को थोड़े कड़े नजरों का सामना करना पड़े, तो बोलिये मैं क्या करूँ। मैं तो सीधा बेगम साहबा से जाकर मिल सकता था, परन्तु वैसा न करके पहले आप ही लोगों के पास आया हूँ। और किस प्रकार प्रयास कर रहा हूँ, यह भी तो आप देख ही रहे हैं।''

– ''हाँ हाँ, सो तो देख रहा हूँ। आप तो, आप तो ..।''

– ''इसमें आप लोगों का अनिष्ट होने की जरा भी सम्भावना नहीं है। परन्तु दुख की बात यह है कि जो कार्य रेवेन्यू दीवान आसानी से कर सकते थे, और हजारों गरीब-दुखियों का आशीर्वाद पाते, उसे करने का नैतिक साहस उनमें नहीं है। ऐसे मेरुदण्डहीन व्यक्ति को एक ऐसे महत्त्वपूर्ण पद पर रखना कदापि उचित नहीं है। वे ऐसी जिम्मेदारी के पद के पूर्णत: अयोग्य हैं।'' अस्तु।

अगले दिन अपराह्न में मास्टरजी से फिर भेंट हुई। वे हँसते हुए आकर बोले – ''स्वामीजी, काम हो रहा है, आप जो चाहते थे, वह काम हो रहा है।''

– ''कैसे?''

मास्टर जी – ''कल के उपाय का अवलम्बन करके लड़कों को बोलते ही बड़े लड़के ने तत्काल जाकर (बेगम साहबा को) सूचित कर दिया था। उन्होंने रेवेन्यू दीवान को बुलवाया। मैंने भी मौका देखकर सत्य बोलने के लिये उन्हें वह रिपोर्ट दिया। उसे (मेरे रिपोर्ट को) पाते ही उन्होंने आदेश दिया है, तत्काल सब नीलाम बन्द किया जाय और जिन लोगों में कर देने की सामर्थ्य नहीं है, उनकी जाँच-पड़ताल करके इस बार माफ कर दिया जाय। बहुत अच्छा हुआ स्वामीजी! आप ही के कारण यह सब हुआ।''

– "नहीं मास्टरजी, यह सब आपके गुण से हुआ। इन हजारों दीन-दुखियों का आशीर्वाद आप ही के मस्तक पर बरसेगा। मैं तो सन्देशवाहक मात्र हूँ।"

अगले दिन लौटकर मर्दानपुर गया। देखा – वहाँ पहले ही सूचना आ चुकी है। किसान लोग बेगम साहबा की जैजैकार कर रहे हैं। देखकर प्राण शीतल हुए। शान्ति मिली।

पूर्वोक्त जागीरदार मित्र आकर हाजिर हुए – "स्वामीजी, यह सब निश्चय ही आपका कार्य है। उस दिन बातचीत के बाद ही आप भोपाल गये हैं, यह सुनते ही सोचा था कि आप प्रयास करने गये हैं कि यदि कुछ 'राहत' मिल जाय, वर्तमान में किसानों से अदायगी बन्द हो जाय! सो ...।"

– "मेरे द्वारा कुछ भी नहीं हुआ है। मैंने तो केवल किसी प्रकार इन लोगों के दुर्व्यवहार की बात बेगम साहबा के कानों तक पहुँचा दी। और ईश्वर की प्रेरणा से उन्होंने ही यह सब किया है! देखिये, स्वामी विवेकानन्द ने कहा है – 'दुर्बलता ही पाप है।' इस पाप ने पूरे भारत को आच्छन्न कर लिया है। आदमी एक सत्य बात तक नहीं बोल सकता। जिस सत्य के द्वारा किसी का अनिष्ट तो होगा ही नहीं, बल्कि सबका कल्याण ही होगा, ऐसा सत्य भी बोलने का साहस नहीं है। तो भी तिलक-चन्दन लगाकर धार्मिक बने हुए हैं। छी! छी! धिक्कार है हमारी धार्मिकता को! भगवत्परायणता को! ईश्वर-परायण व्यक्ति निर्भीक होता है। सच्चा धार्मिक व्यक्ति सत्कार्य में, सत्य बोलने में भय नहीं करता। आप लोग भी तो विचारपूर्वक बेगम साहबा से प्रार्थना कर सकते थे और उसकी सत्यता की जाँच करने को कह सकते थे?"

थोड़े लज्जित होकर – "ठीक है स्वामीजी, परन्तु भीतर वह भय ऐसा घुसा हुआ है कि साहस ही नहीं होता। कौन जाने कैसे उनके कोप के शिकार बन जायँ! बल्कि अफसरों के कानों में पड़ने से धन और प्राणों का नाश हा जायेगा। कोई बचायेगा नहीं स्वामीजी, कोई बचायेगा नहीं आयेगा! हाँ, वह जो कह रहे हैं कि भगवान के ऊपर विश्वास – कि वे निश्चय ही कल्याण करेंगे, रक्षा करेंगे, वह सत्य नहीं है। हो सकता है किसी व्यक्ति ने किसी छोटे-से राज-कर्मचारी के किसी अनुचित दावे के लिये या उन्हीं (राज-कर्मचारी) के किसी हँसी-मजाक के लिये जरा-सा अपमान कर दिया हो, तो निर्दोष पर जो अत्याचार और उत्पीड़न देखता हूँ, तो प्राण काँप उठते हैं, देखता हूँ कि यहाँ रक्षा करनेवाला कोई भी नहीं है। भगवान यदि अन्यायकारी को – अत्याचारी को – अधर्मी को दण्ड देते हों, तो भरोसा हो कि हाँ, वे हैं! और मुझे तो लगता है कि तब यह अन्याय, जुल्म, अनीति, अधर्म करने का कोई साहस ही नहीं करेगा। यह संसार ही – यहीं स्वर्ग, बैकुण्ठ आदि सब हो जायेगा! लेकिन कहाँ, ऐसा तो नहीं दीख पड़ता! यह बात सत्य है कि किसी-न-किसी दिन वे अवश्य अपने बुरे कर्मों का फल भोगेंगे, परन्तु यह हमारे जैसे अज्ञ की दृष्टि के बाहर होने के कारण उस मान्यता को लेकर मन को थोड़ा-सा समझाने के अतिरिक्त और क्या है, बोलिये! इसमें भगवान के अस्तित्व में विश्वास रहने पर भी उस पर भरोसा करके रहना क्या सम्भव है? कर्मवाद सुन्दर युक्तिपूर्ण है, परन्तु वह मेरे हृदय का भयंकर भय दूर करने में समर्थ नहीं है! वह विश्वास कहाँ है?"

मैं – "आपके मन का भाव समझ गया। आपने जो कहा उसमें सत्यता है। एक-न-एक दिन कर्मफल का भोग करना ही पड़ता है, यह अनुभव का विषय न होने पर ऋषिगण इतना जोर देकर नहीं कहते। मुझे लगता है कि यह मन को समझाने के लिये गढ़ा हुआ कोई अनुमान या युक्ति पर आधारित सिद्धान्त नहीं है। सारी बातें क्या हम लोग समझ सकते हैं। बहुत कुछ हमारी साधारण बुद्धि के बाहर रह जाता है। यद्यपि मैं जोर देकर नहीं कह सकता कि सचमुच कर्मफल का भोग करना ही पड़ता है, मेरे अपने मन में भी वैसे विचार आते हैं, स्वयं भी संशयाकुल होकर कष्ट पाता हूँ। परन्तु जानते हैं क्यों? जो लोग जोर देकर उसे सत्य कह रहे हैं, वे कोई स्वार्थी लोग नहीं अपितु सत्य के उपासक थे। वे लोग निर्भय होकर अनेक सत्य बोल गये हैं, उन्होंने वेदों तक की परवाह नहीं की है। ऐसे सत्य कह गये हैं, जिनसे वेदों के आधिपत्य में न्यूनता आई है। आपके नित्य पाठ्य गीता में भी ऐसे ही सत्य उल्लिखित मिलेंगे। और दूसरी ओर भगवान बुद्ध, जो सत्य के सिवा अन्य कुछ जानते ही नहीं थे, वे भी कर्मवाद को स्वीकार कर गये हैं। इस प्रकार इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु यह भी सत्य है कि इसकी फलविधि को समझा नहीं जा सकता।

"वेदान्तियों की एक श्रेणी युक्ति देती है – स्वाधीनता के बिना उन्नति या विकास नहीं हो सकता, अत: अमुक परिधि या सीमा के भीतर जीव स्वतंत्र रूप से कर्मादि कर सकता है, परन्तु उसके फल पर उसका अधिकार नहीं रहता। फल प्रकृति के साधारण नियम के अधीन होने के कारण यथासमय प्रकट या फलीभूत होता है। ईश्वर या प्रकृति स्वयं ही इसकी कर्ता है। इसीलिये गीता में भगवान ने अर्जुन से कहा – "कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है, फल में नहीं। परन्तु इसी कारण कर्म को छोड़ मत देना। तुम अपना कर्तव्य किये जाओ।" आदि आदि। फलाकांक्षा-रहित होकर कर्म करने को कहा। निश्चय ही उसमें गूढ़ार्थ है, पर वह हमारी साधारण बुद्धि के गोचर नहीं है। केवल जिनका मन उस समष्टि मन के साथ एकात्म हो गया है, वे ही इसका सच्चा तत्त्व जान सकते हैं। वे ही लोग बाद में कहते हैं कि कर्मफल है – भले का भला फल और बुरे का बुरा। इसे न मानने पर बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है। और श्री भगवान का प्रत्यक्ष दर्शन

न प्राप्त होने तक इसे समझना सचमुच ही असम्भव है। उनके साथ हमारे समान क्षुद्र जीवों का क्या सम्बन्ध है? वे हम लोगों को किस प्रकार देखते हैं? रक्षा आदि सचमुच ही करते हैं या नहीं? आदि आदि। मैं स्वयं ही भुक्तभोगी हूँ, इसीलिये मैं आपका मनोभाव खूब समझ रहा हूँ। परन्तु फिर उसी युक्ति से हमारे सामने प्रश्न उठता है कि क्या ऐसे सब महापुरुष मिथ्या कह गये हैं? सबको क्या समान रूप से भूल-भ्रान्ति हुई है? सबने क्या किसी स्वार्थवश एक भगवान खड़ा कर दिया है? ऐसा तो नहीं लगता, इसीलिये स्वयं देखे बिना भी विश्वास करने को बाध्य होता हूँ। इससे भले ही मेरे दुख न दूर हों, तो भी सन्देह करने की इच्छा नहीं होती। शरण में पड़े रहने पर भी दुख क्यों आते हैं? इसे किसी पूर्व जन्म में अर्जित कर्मफल के अतिरिक्त किसी अन्य युक्ति के द्वारा मीमांसित नहीं किया जा सकता। यदि सचमुच भगवान ही दुख देते हों, तो उनसे बढ़कर क्रूर ईश्वर और कौन हो सकता है? ऐसे भगवान को मानने या उनकी उपासना न भी किया तो क्या ! इसी प्रकार नास्तिक हो जाना पड़ता है।

''परन्तु जैसे वैज्ञानिक की दृष्टि हुए बिना विज्ञान के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व समझे नहीं जा सकते, वैसे ही यहाँ भी विज्ञान आध्यात्मिक है – यह स्थूल की अपेक्षा अनेकगुना सूक्ष्म है, केवल शुद्ध बुद्धि के लिये गम्य है। शुद्ध बुद्धि के बिना इसे समझा ही नहीं जा सकता। इसी से समझा जा सकता है कि हम कहाँ हैं, हम जिनका मन रजस् और तमस् के मल से ढँका है। – क्यों ढँका है? – नहीं जानते। – यह सब क्यों है? – यह भी नहीं जानते। बस, है और देख रहा हूँ। देखता हूँ कि फन्दे में पड़ा हूँ और दुख आदि की पीड़ा भोग रहा हूँ। या फिर कभी-कभी आनन्द लूट रहा हूँ, यद्यपि वह क्षणिक ही होता है, परन्तु यह नहीं जानता कि यह क्यों प्रकट हुआ है या फिर इस सृष्टि का क्या तात्पर्य है ! परन्तु सभी महापुरुष कह गये हैं कि इन सबके हाथ से छुटकारा अवश्य ही पाया जा सकता है।

''अत: मैंने इतना ही समझा है कि मन की अमुक अवस्था सुख या दुख – दोनों का स्पर्श नहीं कर सकती, दोनों के धक्के उसे विचलित नहीं कर सकते। मनुष्य सभी अवस्थाओं में धीर-स्थिर रह सकता है। सहन करके भी महान् कष्ट से छुटकारा पा जाता है और इस उपाय का अवलम्ब करके मन को स्थिर या सन्तुलित रख सकता है। इतना ही लाभ है। और परहित के व्रत में जो निर्मल आनन्द है – बहुजन-हिताय जीवन में जो आनन्द है – त्याग के मार्ग में जो सुख है – स्वजाति, स्वधर्म तथा राष्ट्र के लिये सर्वस्व त्याग में जो आनन्द है – गरीब, दुखी, पीड़ित तथा पददलितों के लिये सहानुभूति दिखाने में, उनकी सेवा में – उनके सम-दुख तथा सम-सुख होने में जो आनन्द है, जो सुख है, जो मानसिक प्रसाद है, वही यथेष्ट लाभ है। मनुष्य होकर स्वर्ग या वैकुण्ठ-प्राप्ति की अपेक्षा यह किसी प्रकार से कम नहीं है। **अनित्यं असुखं लोकम्** – संसार को अनित्य तथा दुखमय जानकर ईश्वर की उपासना करना और इसमें पड़कर उक्त भाव से बहुजन हिताय जीवन देना – दोनों ही समान प्रतीत होते हैं।

''एक मत है कि सब कुछ उन्हीं की लीला है। और लीला में – 'क्यों?' – नहीं पूछना चाहिये। इस विचित्र लीला से जो – 'त्राहि, त्राहि' – की ध्वनि निकलती है। उसकी मीमांसा वे लोग उसी शब्द के द्वारा करते हैं। फिर अन्त में, इस लीला से छुटकारा पाने का उपाय भी वे लोग बताते हैं – लीलामय को जान लेने पर उनकी लीला के फन्दे से मुक्ति मिल जाती है। जैसे वेदान्ती लोग माया के खेल से मुक्ति पा जाते हैं। मायातीत स्व-स्वरूप को जान लेने पर माया के खेल से छुट्टी मिल जाती है, वह फिर माया के जाल में पकड़ा नहीं जाता। त्रिगुणात्मिका प्रकृति अर्थात् माया ही सब कर रही है, परन्तु अहंकार-अभिमान से विमूढ़-चित्त जीव सोचता है कि वही सब कर रहा है ! ये सब बातें अच्छी हैं, परन्तु वास्तविक अनुभव न होने तक इन सबका सत्यासत्य समझ में नहीं आता और इस कारण इस प्रकार का भय भी नहीं जाता। परन्तु भय करोगे, तो भय के हाथ से, दुख आदि के हाथ से मुक्ति नहीं मिल सकेगी ! इसीलिये स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे – 'Face the Devil, Face evil, Face poverty, Face ignorance. – शैतान का सामना करो, दुख-निर्धनता, अन्याय, अत्याचार, अधर्म का सामना करो।' जो कुछ असत् है, उससे मुक्त होने का उपाय है – असत्य से भय नहीं, असत्य का नाश होना चाहिये और वह शक्तिमान का ही कार्य है। इसीलिये कहा – ''यह दुर्बलता ही सबसे बड़ा पाप है।'' यह सर्वदा हम लोगों को भय में रखता है, विकास के पथ को अभेद्य बना रखा है, मनुष्यत्व से वंचित कर रखा है, कर्तव्य से विमुख कर रखा है, इसीलिये जोर से ईसा के समान कहना होगा – ''Get thee out Satan ! – दूर हो जा शैतान, दूर हो जा !'' और सत्य को पकड़े रहना होगा। हिमालय चूर्ण-विचूर्ण होकर धूल में परिणत हो जाय, चन्द्र-सूर्य अपने-अपने स्थान से च्युत होकर नष्ट हो जायँ, पृथ्वी समुद्र के गर्भ में विलीन हो जाय, तो भी मैं सत्य को – धर्म को नहीं छोड़ूँगा। भगवान बुद्ध के सुर में सुर मिलाकर कहना होगा – भले कार्य में जीवन चला जाय, पर तथापि सद्धर्म का कदापि त्याग नहीं करूँगा, तभी यथार्थ कल्याण होगा।''

इन सब बातों के बाद वे सन्तुष्ट चित्त के साथ अपने घर चले गये। जाने के पूर्व मुझे पुन: अपने यहाँ आने का निमंत्रण देते गये। ❖ **(क्रमश:)** ❖

श्री शंकर देव और वैष्णव धर्म

डॉ. महात्मा सिंह

श्री शंकर देव का जन्म असम के नौगाँव जिले के अन्तर्गत अलिपुखुरी नामक गाँव में १४४९ ई. में हुआ था। उस समय यहाँ अहोम राजा का शासन था। इनके पिता का नाम कुसुम्बर शिरोमणि भूइयाँ और माता का नाम सत्य संध्या था। बचपन में ही माँ-बाप की मृत्यु हो जाने के कारण इनका पालन-पोषण इनकी नानी खेरसुती ने किया।

शंकर देव बचपन से ही विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। वर्षा-ऋतु में कई बार इन्होंने ब्रह्मपुत्र नदी को तैर कर पार किया था। तेरह वर्ष की उम्र में इनको महेन्द्र कन्दलि नामक संस्कृत के विद्वान् के साथ रखा गया। कुछ ही दिनों में शंकर देव संस्कृत भाषा तथा अन्य कई विषयों के प्रकाण्ड पण्डित हो गये। सत्रह वर्ष की आयु में इनकी शिक्षा पूरी हो गयी। इक्कीस वर्ष की उम्र में इनका विवाह सूर्यवती नामक बालिका से हुआ। उनसे 'मनु' नामक एक पुत्री का जन्म हुआ, जिसकी शादी 'हरि' नामक युवक से हुई थी। मनु के जन्म के बाद ही इनकी पत्नी का देहान्त हो गया था।

शंकर देव में आध्यात्मिकता की ओर झुकाव तो बचपन से ही था। पत्नी के देहावसान के बाद उनके हृदय में वैराग्य -भाव उत्पन्न हुआ। कहते हैं कि उन्होंने दो बार पूरे उत्तर भारत के धार्मिक स्थलों का भ्रमण किया था। उस दौरान इनकी सन्त कवि कबीरदास जी से भी मुलाकात हुई थी। इस भ्रमण की अवधि बारह वर्ष की बतायी जाती है। तीर्थ-भ्रमण के पश्चात् घर लौटने पर शंकर देव ने दूसरी शादी कालिन्दी नामक लड़की से की। उसके बाद इन्होंने धर्म-प्रचार करना आरम्भ किया। इन्होंने निराकार भगवान विष्णु की महत्ता का प्रचार आरम्भ किया।

जिस समय श्री शंकर देव का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय असम में शैव और शाक्त धर्मों का प्रचार था। शक्ति की आराधना का मूल स्रोत कामाख्या देवी थीं। बलि-प्रथा का प्रचलन था। पशुओं के अतिरिक्त नर-बलि भी दी जाती थी समाज में छुआछूत, छोटे-बड़े आदि का भेद-भाव तो था ही, यहाँ तक कि गीता, भागवत् आदि धर्मग्रन्थ भी ब्राह्मणों के अलावा कोई स्पर्श भी नहीं कर सकता था। असम को जादू का देश समझा जाता था। तंत्र-विद्या का जोर था। देश-विदेश के तांत्रिक सिद्धि प्राप्त करने के लिए यहाँ आते थे। असम का जन-समुदाय भिन्न-भिन्न जातियों में बँटा हुआ था। ऐसे समय में श्री शंकर देव का आविर्भाव होता है। उन्होंने असमी जनता को उपदेश देना शुरू किया। इसी बीच आपकी मुलाकात माधव देव से हुई जो पहले शाक्त थे, लेकिन आपसे प्रभावित होकर वैष्णव बन गये और धर्म-प्रचार में आप के साथ रहने लगे।

शंकर देव के अनुसार मोक्ष या भक्ति के परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, परम आराध्य विष्णु भगवान हैं, जो निराकार हैं और उनकी आराधना में किसी विशेष जाति के लोगों को प्राथमिकता नहीं मिलती। बल्कि भगवान के समक्ष तो सम्पूर्ण मानव समुदाय एक समान है। उन्होंने भगवान की प्राप्ति के लिए कीर्तन की महत्ता बतलाई। मूर्ति-पूजा को उन्होंने गलत ठहराया।

इनके शिष्यों में सभी सम्प्रदायों के लोग मिलते हैं, यथा – गारो, खासिया, नगा, मिकिर, भुटिया, ब्राह्मण और शूद्र। ब्राह्मण धर्म के सारे धर्म-ग्रन्थ संस्कृत में थे, इसलिए आम जनता को पढ़ने-समझने में असुविधा होती थी। इसलिए इन्होंने अपने उपदेश स्थानीय असमिया भाषा में दिये और इसी भाषा में आपने बरगीत, अंकिया-नाट, रुक्मिणी-हरण आदि पुस्तकें लिखीं। आपकी पुस्तकें शाक्त और शैव धर्म के खण्डन-मण्डन के लिए लिखी गयीं। इनके कुल ग्रन्थों की संख्या २५-२६ बतायी जाती है।

शंकर देव अपने प्रधान शिष्य माधव देव के साथ चौदह वर्षों तक माजुली के बेलगुरी में रहे। उसी समय ब्राह्मणों ने अहोम राजा से आपकी शिकायत कर दी और बताया कि ये वैष्णव-धर्म का प्रचार कर रहे हैं। इसके बाद सन् १५३७ ई. में शंकर देव अपने सभी शिष्यों के साथ माजुली छोड़कर बरपेटा आ गये, जो कोच राज्य के अन्तर्गत था और उस समय वहाँ कोच राजा नर-नारायण का शासन था। यहाँ पर भी ब्राह्मणों ने राजा से शंकर देव के खिलाफ शिकायत की कि धर्म के मामले में ये बड़े उदारवादी हैं और सभी सम्प्रदायों एवं जातियों के लोगों को समान समझते हैं। लेकिन शंकर देव से बातचीत करके राजा इतने प्रभावित हुए कि वे स्वयं वैष्णव बनने को तत्पर हो गये। शंकर देव के सुझाव पर कोच राजा नर-नारायण ने 'मदन-मोहन' का मन्दिर बनवाया, जो कोच-बिहार में अब भी विद्यमान है।

इस तरह धार्मिक, समाजिक, सांस्कृतिक सुधार करते हुए शंकर देव ने ११८ वर्ष की आयु में कोच-बिहार में ही परलोक-गमन किया। उनके द्वारा असमिया में लिखित भागवत और गीता असम के जन-समुदाय में बड़े आदर से पढ़ाया जाता है। माधव देव ने भी 'नाम-घोष' और 'भक्ति-रत्नावली'

आदि ग्रन्थों की रचना की।

शंकर देव के वैष्णव-धर्म के प्रचार के फलस्वरूप आज भी प्रत्येक असमिया गाँव में एक-एक नामघर देखने को मिलता है। ये नामघर हैं तो मन्दिर जैसे ही, लेकिन मन्दिरों से भिन्न हैं। इन नामघरों में मूर्तियाँ नहीं होतीं। मूर्ति की जगह पर इनमें भागवत को ही चैतन्य-मूर्ति मानकर नाम-कीर्तन किया जाता है। जन-जातीय मरंग-घर के साथ नामघरों का बड़ा सादृश्य है। अन्य प्रान्तों में भागवत पाठ पर गुरुत्व दिया जाता है, पर असम में स्थानीय भाषा में रचित कीर्तन, नामघोष, रत्नावली, दशम् आदि के पाठ पर जोर दिया जाता है। असम में शंकर देव के उपदेश के फलस्वरूप शिव को विष्णु का ही अभिन्न रूप माना जाता है। वैष्णव भक्त शंकर देव ने हरि-हर को एक ही माना है।

भागवत पुराण का कृष्ण-चरित और कृष्ण-भक्ति-शाखा को शंकर देव ने विशिष्टाद्वैतवाद की ओर मोड़ दिया। बौद्ध-धर्म और ग्रंथ के आधार पर नाम, देव, गुरु और भक्तों की रूप-रेखा तैयार की गई। समुदाय सहित ताली बजाकर एक स्वर में नाम-कीर्तन करने और आशीर्वाद देने की प्रथा भारत में अन्यत्र नहीं देखी जाती, यह यहीं की विशेषता है।

शंकर देव के 'बरगीत' का प्रभाव आज भी असमिया समाज पर प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। कबीरदास की ही तरह यदि शंकर देव साहित्य को असममिया साहित्य से निकाल दिया जाय, तो कुछ बचेगा ही नहीं। शंकर देव केवल धर्म प्रचारक ही नहीं, वरन् एक साहित्यिक भी थे। नाटक के द्वारा कला-संस्कृति का विकास तो हुआ ही, उनके धर्म में गणतंत्र-प्रथा का भी अवलोकन किया जा सकता है, इसे आज भी बरपेटा-सत्र में देख सकते हैं।

संक्षेप में यदि शंकर देव के वैष्णव धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में कहा जाय तो शंकरदेव प्रथम विवाह के उपरान्त पत्नी के देहान्त हो जाने पर तीर्थ-यात्रा के लिए निकले। भारतवर्ष के प्राय: सभी मुख्य तीर्थ – पुरी, गया, काशी, अयोध्या, वृन्दावन, बदरिकाश्रम, प्रयाग आदि का भ्रमण किया। विविध साधुओं और पण्डितों से सम्पर्क हुआ, फिर लौटकर असम आये और वैष्णव धर्म का प्रचार आरम्भ किया। प्रथम वैष्णव मठ, जिसे यहाँ सत्र कहा जाता है, बरदोवा में स्थापित हुआ। इन्होंने वैष्णव मंत्र की दीक्षा देना शुरू किया। अहोम दरबार शाक्त था। दरबारी, ब्राह्मणों के उत्तेजित करने पर दरबार इनसे रुष्ट हो गया। शंकर देव स्वयं कायस्थ थे। फलस्वरूप बरपेटा (कामरूप) में नया सत्र बाँधकर रहने लगे। कालान्तर में इन्होंने पुनर्विवाह किया। वे बरपेटा को केन्द्र बनाकर वैष्णव आन्दोलन का नेतृत्व करने लगे। बरपेटा उस समय कोच-बिहार (कामता राज्य) के अन्तर्गत था। उस समय राजकीय प्रोत्साहन भी इनको पर्याप्त मात्रा में मिला। माधव देव, अनन्त कंदली आदि कई विख्यात प्रतिभाशाली शिष्यों की सहायता से वैष्णव-धर्म की जय-यात्रा इन्होंने अपने अन्तिम काल तक पूरी कर दी। कीर्तन, भागवत-भक्ति-रत्नाकर, भक्ति-प्रदीप, अनेक बरगीत और अनेक एकांकी भाव नाट्यों की रचना कर वैष्णव साहित्य को विस्तार एवं मानदण्ड प्रदान किया।

इनके गुरु कौन थे? कोई गुरु थे अथवा इन्हें भागवत आदि शास्त्रों के मनन द्वारा स्वयं बोध हुआ – यह प्रश्न विवादास्पद है। पर इतना निश्चित है कि ये उक्त युग की बड़ी-बड़ी वैष्णव प्रतिभाओं के सम्पर्क में आये थे। मैथिल पण्डित जगदीश मिश्र, जिन्हें कहते हैं स्वप्न में जगन्नाथ जी ने शंकर देव से मिलने की आज्ञा प्रदान की थी, इनसे आकर मिले और इन्हें एक वर्ष तक भागवत पर श्रीधर स्वामी की टीका सुनाया था। उसके बाद उक्त ब्राह्मण की मृत्यु हो गयी। दूसरे पण्डित विष्णुपुरी का नाम भी आता है, जिनका इन्होंने 'विष्णुपुरी मोर संगी' – 'विष्णुपुरी मेरे मित्र' – कहकर उल्लेख किया था। अत: इनके दीक्षा गुरु सम्भवत: कोई नहीं थे, पर इनका सत्संग बहुतों से हुआ था।

इनकी शिष्य-परम्परा में सबसे प्रमुख व्यक्तित्व है माधव देव का, जो इनके द्वारा उत्तराधिकारी चुने गये थे। श्री माधव देव भी जाति के कायस्थ थे। एक अन्य शिष्य श्री दामोदर देव जाति के ब्राह्मण थे। माधव देव ने गुरु की मृत्यु के बाद कई बातों में मनमानी करना शुरू कर दिया, इससे दामोदर देव नाराज हो गये। फलत: धीरे-धीरे वे अलग होने लगे और अन्त में जाकर एक नवीन वैष्णव मत की स्थापना की – दामोदरिया सम्प्रदाय। इस नवीन सम्प्रदाय में शास्त्रों की मर्यादा स्वीकार की गयी थी। परन्तु माधव देव के सुधारवादी उत्साह ने उन्हें कई स्थलों पर ब्राह्मण-गौरव एवं शास्त्रीय मर्यादा को उपेक्षित करने को बाध्य किया। फिर भी माधव देव ने महापुरुषिया सम्प्रदाय के लिए वही किया, जो सारिपुत्र और मौदगल्यायन ने बौद्ध-धर्म के लिए किया था।

इस नवीन वैष्णव-धर्म का मूल स्रोत था 'भागवत महा-पुराण'। कामरूप में शंकरदेव ने श्रीकृष्ण की पूजा का ही प्रसार किया था, यद्यपि राम की अभ्यर्थना में भी उन्होंने गीत लिखे एवं 'राम-विजय-नाट' की रचना ब्रजवाली में की, फिर भी उपास्य देव के रूप में श्रीकृष्ण को ही मानते थे।

❑❑❑

सेवा : एक सर्वोत्कृष्ट उपासना

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

स्वामी विवेकानन्द जी के श्रीमुख से बहुबार यह वाणी उद्‌घोषित हुई है – 'त्याग और सेवा ही भारत के आदर्श हैं।' उन्होंने और भी कहा – '**जो करता जीवों का पूजन। वही कर रहा ईश्वर पूजन।।**' 'जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे सबसे पहले उनके सन्तानों की, विश्व के प्राणीमात्र की सेवा करनी चाहिये।' स्वामीजी की यह वाणी समस्त शास्त्रों के साररूप में नि:सृत हुई थी। इसकी परिपूर्ति में, इसे जग-जन के अन्तस्तल तक पहुँचाने में उन्होंने अथक परिश्रम कर अपना सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग कर दिया।

'सेवा' के विभिन्न आयाम हैं। कोई 'सेवा' समाज में नाम-यश की आकांक्षा से करता है। कोई अहंकारपूर्ति के लिया करता है। कोई 'सेवा' कर्त्तव्य के रूप में करता है। कोई 'सेवा' सामाजिक ऋण से मुक्ति हेतु करता है। कोई 'सेवा' परोपकार के रूप में करता है, तो कोई पुण्य-अर्जन के लिये। कोई 'सेवा' दया के रूप में करता है। कोई 'सेवा' शास्त्रों की आज्ञा 'प्रभु सम्मित उपदेश' है, इसलिये करता है। यथा –

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीड़नम्।।

– 'अठारहों पुराणों के साररूप में व्यासजी ने मुख्यत: दो ही बातें कहीं – परोपकार ही पुण्य और परपीड़न ही पाप है।'

गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी रामचरितमानस में कहा –

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
परपीड़ा सम नहिं अधमाई।।

महात्मा बुद्ध ने '**बहुजनहिताय बहुजनसुखाय**' का उद्‌घोष किया। आदि-शंकराचार्य जी ने भी कहा – '**भूत दया विस्तारय तारय संसार सागरत:।**' इस प्रकार अनेकों महापुरुषों की सूक्तियाँ 'सेवा' की महिमा का गान करती हैं। लेकिन इन सबसे पृथक भी सेवा का एक दृष्टिकोण है। वह क्या है?

'सेवा' एक साधना है। 'सेवा' तप है। 'सेवा' योग है। 'सेवा' जीव और परमात्मा से मिलने का एक प्रमुख साधन है। 'सेवा' मनुष्य के अन्तस्थ परमात्मा की अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण माध्यम है। 'सेवा' मानवीय आदर्श है। 'सेवा' मानव-मानव के बीच सौहार्द-प्रेम एवं शान्ति-स्थापना की एक विशेष श्रृंखला है। 'सेवा' केवल परोपकार, दया, शास्त्राज्ञा एवं समाज-ऋण से मुक्ति का उपकरण ही नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति का सर्वोच्च आदर्श एवं मानव-जीवन की सर्वोत्कृष्ट साधना है।

स्वामी विरजानन्द जी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'परमार्थ प्रसंग' में कहते हैं – 'सेवा, स्वाध्याय, साधन, सत्य और संयम, यह पंच 'स'कार सिद्धि-लाभ का श्रेष्ठ उपाय है।'

संत रविदास जी कहते हैं –

धुआँ तपन मँहि का धरा, धूप तपन ही त्याग।
'रविदास' मिलिहै मोख-धाम, सेवा ही तप आग।।
दीन-दुखी करि सेव मँहि, लागि रह्यो 'रविदास'।
निसि बासर की सेव सों, प्रभु-मिलन की आस।।

(गुरु रविदास, पृष्ठ ४८)

– सेवा से मोक्षधाम मिलेगा तथा दीन-दुखियों की सेवा से ही प्रभु की प्राप्ति होगी।

ऐसी बहुसम्मानिता सेवा कैसे करें?

स्वामी ओंकारानन्द जी महाराज कहते हैं –"जिस कार्य से किसी का अपकार न हो, मन शुद्ध हो और दूसरे का कल्याण हो, उसे सेवा कहते हैं।"

इसका आदर्श या मापदणड प्रस्तुत करते हुये कपिल भगवान भागवत में कहते हैं –

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद् दान-मानाभ्यां मैत्र्या-अभिन्नेनचक्षुषा।।

– 'क्योंकि मैं सभी प्राणियों में उनकी आत्मा के रूप में निवास करता हूँ, इसलिये उन सबकी दान, सम्मान, सत्कार के साथ मैत्रीपूर्ण आचरण द्वारा अभिन्न-दृष्टि से सबमें साम्यदृष्टि रखते हुये मनुष्य को मेरी पूजा करनी चाहिये।'

इतना ही नहीं –

विसृज्य स्वयमानान् स्वान् दृशं व्रीडाञ्च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमौ अश्वचण्डाल गोखरम्।।

– 'अपने अहंकार को त्यागकर, दैहिक घृणा को छोड़कर अश्व-चाण्डाल से लेकर समस्त प्राणियों को दण्डवत् प्रणाम करना चाहिये।'

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है – '**ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' – हे अर्जुन ! सभी प्राणियों के हृदय में ईश्वर निवास करते हैं।' इसलिये शास्त्रों, सन्तों और महापुरुषों ने प्राणी-सेवा, जीव-सेवा पर बड़ा बल दिया। सर्वदा मनुष्य की सेवा उपरोक्त दान-मान-मैत्री एवं अभिन्नदृष्टि से करने का विधान है। लोक संस्कृति में इसका प्रचलन पर्याप्त दृष्टिगोचर होता है। एक कृषक मजदूर भी अपने दरवाजे से किसी सन्त या याचक को बिना कुछ दिये वापस नहीं भेजता। पूछने पर वह अपनी गीत का उद्धरण देता है –

बड़े प्रेम से मिलना सबसे दुनिया में इंसान रे।
ना जाने किस भेष में बाबा मिल जायें भगवान रे।।

भगवान कपिल पुन: कहते हैं –

अहं उच्चवचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे ।
नैव तुष्ये अर्चितो अर्चायां भूतग्रामावमानिनः ।।

– 'जो विभिन्न प्रकार के अनुष्ठानों एवं द्रव्यों से मेरी मूर्ति की पूजा करता है, लेकिन समस्त अन्य प्राणियों का अनादर करता है, मैं उसकी पूजा से कभी भी प्रसन्न नहीं होता। भले ही वह मेरे विग्रह की कितनी ही पूजा क्यों न करे।'

उपरोक्त दान-मान आदि द्वारा कब तक ऐसी पूजा करनी चाहिये? भगवान कहते हैं –

यावद् सर्वेषु भूतेषु मद्भावोनोपजायते ।
तावद् एव उपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः ।।

– 'जब तक सभी प्राणियों में परमात्मा का अनुभव नहीं होता, सभी जीवों में ईश्वरानुभूति नहीं होती, तब तक दान-मान-मित्रता-समता द्वारा समस्त प्राणियों की सेवा-उपासना वाणी, शरीर, मन और अपने आचरण से करनी होगी। इतना ही नहीं **'यावद् न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम्'** – जब तक अपने हृदय में एवं सभी जीवों के हृदय में परमात्मानुभूति न हो जाय, तब तक सेवा की यह सर्वोत्कृष्ट उपासना करते रहनी होगी। इसीलिये श्रीरामकृष्णदेव ने '**शिवज्ञान से जीवसेवा**' और स्वामी विवेकानन्द जी ने '**मानव-सेवा माधव-सेवा**' की प्रेरणा प्रदान की।

इस प्रकार सेवा एक सर्वश्रेष्ठ यज्ञ, उत्तम तप और सर्वोत्कृष्ट साधना है, जो मनुष्य को परमात्मा से अभिन्न एवं तादात्म्य स्थापित कराती है तथा उसमें ईश्वरीय भावों का समावेश कर उसे ईश्वर-सदृश बना देती है। ❑❑❑

कविता-कुंज

– १ –

मानव को जो ईश्वर कर दे

डॉ. सन्त कुमार

धर्म वही जो पशु को
मानव को जो ईश्वर कर दे ।
घोर तमिस्रा के माथे पर
सहज रूप जो दिनकर धर दे ।।

सीय राम मय सब जग दीखे
ऐसा जीवन राम बना दे,
जग में रह कर भी मानव को
जग से जो निष्काम बना दे,
कर्म वही जो सत्यं शिवं
सुन्दरं पूरित जीवन कर दे ।
जल में भी जो कमल सरीखा
रहने का मानव को वर दे ।।

जहाँ अपावन ज्ञान रहेगा
और शक्ति का अतिक्रम होगा,
काम क्रोध मद लोभ मोह
माया, मत्सर तम ही तम होगा,
स्वार्थ और परमार्थ भावना
असुर-सुरों में अन्तर कर दे ।
धर्म वही जो सत्‌किरणों से
जीवन-पथ आलोकित कर दे ।।

– २ –

श्रद्धा-गीत

आचार्य मुनिराम

हे माँ तेरे चरणों में,
हम शीश झुकाते है ।
श्रद्धामय मन-सुमनों के
हम अर्घ्य चढ़ाते हैं।।
वह शक्ति हमें देना,
सन्मार्ग पे चल पायें,
उनको भी सहारा दें,
पथ में जो ठहर जायें ।
सेवा में समर्पित हों,
हम शपथ उठाते हैं ।।१।। हे माँ.

वह भक्ति हमें देना,
दुर्भाव सिमट जायें,
चरणों में प्रीति बढ़े,
कष्टों में भी मुस्कायें ।
अभिमान न हो कुछ भी,
कर्तव्य निभाते हैं ।।२।। हे माँ.

सेवा भी तुम्हारी है,
साधन भी तुम्हारा है,
हर शक्ति तुम्हीं से है,
प्रेरण भी तुम्हारा है ।
हर श्वाँस श्वाँस से माँ,
तुमको ही बुलाते हैं ।।३।। हे माँ.

नर्तकी का वह भजन (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

स्वामीजी के खेतड़ी-निवास का प्रसंग पूरा करने के पूर्व अब हम वहाँ घटित हुई सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना पर आते हैं और वह है उनके द्वारा एक नर्तकी से भजन सुनना। इसके पूर्व तक उन्होंने दीन-दुखियों, दलितों-पतितों को देखा था, उनके साथ निवास भी किया होगा और वे उनके प्रति संवेदना तथा सहानुभूति का भाव भी रखते थे, परन्तु इस घटना के बाद तो जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण ही बदल गया। और इस दृष्टि से यह घटना उनके जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटनाओं में एक है।

विभिन्न लेखकों ने इस घटना के कई तरह के विवरण लिखे हैं, जिसके कारण कई बातें अस्पष्ट हो गयी हैं, यथा – (१) यह घटना खेतड़ी में हुई या जयपुर में? (२) यह घटना स्वामीजी के प्रथम खेतड़ी-आगमन के समय १८९१ में हुई या उनके द्वितीय खेतड़ी-प्रवास के दौरान १८९३ में हुई? (३) उस समय क्या एक ही भजन हुआ था या कई? आदि आदि।

इस घटना का सबसे पुराना वर्णन नाट्य-सम्राट् गिरीशचन्द्र घोष के १९१० ई. के एक व्याख्यान में प्राप्त होता है। उसके बाद दूसरा विवरण मिलता है स्वामी विरजानन्द द्वारा संकलित और १९१३ ई. में प्रकाशित स्वामीजी की पुरानी अंग्रेजी जीवनी में। और स्वामीजी से सुनकर इस घटना सम्बन्धी कुछ बातें भगिनी निवेदिता तथा भगिनी क्रिस्टिन ने भी लिपिबद्ध की हैं। फिर पंडित झाबरमल शर्मा तथा वेणीशंकर शर्मा, श्री अरुण कुमार विश्वास ने भी अपने शोध-परक ग्रन्थों में इस घटना का विवरण दिया है। प्रमुख स्रोतों के आधार पर फ्रांसीसी विद्वान् मोशियो रोमाँ रोलाँ तथा स्वामी गम्भीरानन्द जी आदि महान् जीवनीकारों ने भी इसके विवरण लिखे हैं। इसके अतिरिक्त बीकानेर के श्री धन्नारामजी राजपुरोहित ने उक्त नर्तकी-गायिका मैनाबाई की वृद्धावस्था में उनसे मुलाकात करके उसका एक विवरण प्रकाशित किया है।

इनमें से स्वामी विरजानन्द, गिरीश घोष, निवेदिता, क्रिस्टिन आदि ने स्वामीजी के मुख से प्रत्यक्ष रूप से यह घटना सुनी थी। पं. झाबरमल शर्मा ने प्रकाशित विवरणों तथा जनश्रुतियों से इस घटना का विवरण प्राप्त किया। और रोमाँ रोलाँ, स्वामी गम्भीरानन्द जी आदि जीवनीकारों ने इन विवरणों में जो भी मिला, या समीचीन लगा, उसे अपनाया।

यहाँ यथासम्भव प्राप्त सभी विवरणों का संकलन करके उनका विश्लेषण करने का प्रयास किया जायेगा।

(१) गिरीश चन्द्र घोष का वर्णन –

बंगाल के सुप्रसिद्ध नाट्यकार तथा अभिनेता श्री गिरीशचन्द्र घोष स्वामीजी के अन्तरंग मित्र थे। यह वर्णन उन्होंने स्वयं ही स्वामीजी के मुख से सुना था और १९१० ई. में होनेवाली एक सभा में पाठ करने के लिए अपने भाषण में लिपिबद्ध किया था। प्रत्यक्षत: स्वामीजी से ही सुने जाने के कारण इसकी प्रामाणिकता असन्दिग्ध है। वाराणसी के 'रामकृष्ण अद्वैताश्रम' में विवेकानन्द-जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में २९ जनवरी १९१० ई. को उन्होंने 'विवेकानन्द की साधना का फल'[१] विषयक अपने पठित निबन्ध में लिखा था –

"अभिमान कितना सुदृढ़ हुआ करता है, यह समझाने के लिए दृष्टान्त-स्वरूप उन्होंने (स्वामीजी) एक अन्य घटना का भी हमारे समक्ष उल्लेख किया था। जिन दिनों वे खेतड़ी-राजा के अतिथि थे, तभी एक दिन राजा ने एक प्रौढ़ा गायिका को गाने के लिए बुलवाया। स्वामीजी ने सोचा – संगीत का व्यवसाय करनेवाली स्त्री कभी सुचरित्र नहीं हो सकती और विशेषत: स्त्रियों का गाना तो वे बिल्कुल भी नहीं सुनते थे। वे वहाँ से चले जायेंगे, यह सोचकर उठ खड़े हुए। खेतड़ी के राजा ने उनसे विशेष अनुरोध करके गीत सुनने की प्रार्थना की। स्वामीजी ने सोचा – जब अनुरोध कर रहे हैं, तो एक गीत सुनकर ही उठूँगा। गायिका ने गाना शुरू किया – मुझे तो उस गीत की एक ही कड़ी याद है – **प्रभु, मेरो अवगुण चित न धरो, समदरशी है नाम तुम्हारो** ...। गाने का भाव यह था कि 'प्रभो, तुम तो दोष-गुण का विचार नहीं करते, गंगा में अपवित्र जल आने पर वह भी गंगाजल हो जाता है।'

१. विवेकानन्देर साधनार फल, 'उद्बोधन', वर्ष १३, बैशाख १३१८ बंगाब्द के अंक में प्रथम प्रकाशित और साहित्य संसद, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित 'गिरीश-ग्रन्थावली' के खण्ड ५, पृ. २८३ पर मुद्रित

"स्वामीजी ने बताया था – 'मैंने वह गीत सुनकर सोचा – क्या यही मेरा संन्यास है ! मैं संन्यासी हूँ और यह सामान्य गायिका है – यह ज्ञान आज भी मुझमें बना हुआ है ! विश्वव्यापिनी जगदम्बा का दर्शन आज भी मुझे नहीं मिला !'

"तब से वे गायिका को 'माँ' के रूप में सम्बोधित किया करते और जब भी खेतड़ी के राजभवन में जाते, तभी उसे बुलवाकर भजन सुनते और वे गायिका भी स्वामीजी के मातृ-सम्बोधन से मातृ-भावापन्न होकर उन्हें मातृदृष्टि से देखती थीं। यह घटना साधन-अभिमानी के लिए एक अंकुश के समान है। ईश्वर किसे किस मार्ग से ले जाते हैं, यह समझना मानव-बुद्धि के परे है। यदि कोई साधनाभिमानी इन गायिका की यौवनावस्था देखकर उसे नारकीय कहकर घृणा करते, तो वे यह घटना देखकर निश्चय ही समझ जाते कि उनकी धारणा भ्रान्तिमूलक थी। ईश्वर-कृपा ही मूल है, साधारण गायिका भी अनायास ही वात्सल्य-प्रेम की अधिकारिणी हो गयी थी।"

(२) प्रथम अंग्रेजी जीवनी से –

१९१३ ई. में प्रकाशित स्वामी विरजानन्द द्वारा संकलित स्वामीजी की पुरानी जीवनी (खण्ड २, पृ. १५२-५४) में लिपिबद्ध विवरण।[२] उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है –

"ग्रीष्मकाल की एक संध्या को राजा तथा उनके कुछ अन्तरंग मित्र महल के सुन्दर उद्यान में बैठे शीतल वायु का सेवन कर रहे थे। बगल में ही स्थित हॉल में कुछ नर्तकियाँ अन्य वाद्य-यंत्रों की संगत के साथ हल्के स्वर में वीणा बजा रही थीं। आकाश में तारे जगमगा रहे थे और रात बड़ी शीतल तथा सुहावनी थी। महाराज को वहाँ बैठे एकाकीपन का बोध हो रहा था। वे हॉल के अन्दर गये और अपने निजी सचिव को अपने गुरुदेव को बुला लाने भेजा। स्वामीजी अपना ध्यान छोड़कर आये और राजा के पास बैठकर आध्यात्मिक विषयों पर चर्चा करने लगे। तदुपरान्त महाराजा ने एक नर्तकी से कुछ गाने को कहा। परन्तु स्वामीजी कभी नारी-कण्ठ का गीत नहीं सुनते थे, अत: जब नर्तकी ने गायन आरम्भ किया, तो वे उठ खड़े हुए और वहाँ से चल देने को उद्यत हुए। महाराजा ने दृढ़तापूर्वक उनसे वहीं रहने का अनुरोध करते हुए कहा, 'स्वामीजी, इसका गाना सुन लीजिए ! इसके गीत से आपके मन में केवल अच्छी भावनाओं का ही उदय होगा !" किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर स्वामीजी यह सोचते हुए बैठ गये कि एक गीत सुनकर ही चला जाऊँगा। और इसके बाद महान् वैष्णव सन्त सूरदास के एक भजन की पंक्तियाँ, संध्या की वायु पर तैरती और चारों ओर फैली निस्तब्धता को भेदती हुई, वाद्यों के संगति के साथ नर्तकी के स्वर में गूँजने लगीं –

प्रभु मेरे अवगुण चित न धरो, ...

"भजन में निबद्ध ये सुन्दर शब्द, सर्वोच्च अनुभूति के लिए एक विनम्र भक्त के हृदय की पुकार को व्यक्त करते हैं, और वे एक ऐसी नारी के कण्ठ से निकले, जो अपनी परिस्थितियों की दासी हो अपना जीवन बिता रही थी। परन्तु वह मानो भजन के भावों में अपना पूरा हृदय उड़ेलकर गा रही थी। स्वामीजी विस्मित रह गये और सोचने लगे कि इस नर्तकी का भजन इस सत्य को व्यक्त करता है कि सब कुछ ब्रह्म है, सभी प्राणियों में दिव्यता छिपी है। उन्होंने स्वयं ही कहा था, "इस भजन को सुनकर मैं सोचने लगा – क्या यही मेरा संन्यास है ! संन्यासी होकर भी मेरे मन में अपने तथा इस महिला के विषय में ऐसा भेदभाव क्यों आया !" और उस नर्तकी का भजन सुनते हुए स्वामीजी का मुख-मण्डल एक ब्रह्मज्ञानी के तेज से उद्दीप्त हो उठा। उनके मन से नर-नारी का सारा भेद दूर हो चुका था और उन्हें भी अपने गुरुदेव के समान ही दुनिया की दृष्टि में निकृष्टतम समझे जानेवाले लोगों में भी ब्रह्म का ही आलोक दिखने लगा। नर्तकी ने इतनी कोमलता तथा भावनाओं की गम्भीरता के साथ वह भजन गाया था कि उसके शब्द स्वामीजी की अन्तरात्मा में अग्नि के समान प्रविष्ट हो गये और उन्होंने स्पष्ट रूप से देखा कि 'सब कुछ एक तथा अखण्ड है।' और उसी दिन से वे उस महिला को 'माता' के रूप में सम्बोधित करने लगे। ...

खेतड़ी नरेश के महल में स्वामीजी को वैसा ही (शंकराचार्य के जीवन की घटना के समान) अनुभव हुआ, जिसके फलस्वरूप उन्होंने परम उत्कृष्ट तथा सर्वाधिक निकृष्ट के बीच के सारे भेदभावों का त्याग कर दिया। उन्होंने यहाँ तक की एक नर्तकी के भजन के द्वारा भी एक सघन तथा आलोकित रूप से अद्वैत का अनुभव किया ! और उस भजन के द्वारा इन विस्मय-विमुग्ध संन्यासी के समक्ष सर्वोच्च सत्य अभिव्यक्त हो उठा। विचित्र हैं परमेश्वर की लीलाएँ !

(३) पं. झाबरमल शर्मा

स्वामी अखण्डानन्द जी की प्रस्तावना से विभूषित १९२७ ई. में प्रकाशित विद्वान् लेखक की पुस्तक 'खेतड़ी-नरेश और विवेकानन्द' पुस्तक (पृ. ७-१०) में ऐसा वर्णन प्राप्त होता है, जो सम्भवत: पुरानी जीवनी के वर्णन पर ही आधारित है – "एक दिन की घटना है। गर्मी का मौसम था। सूर्य भगवान के अस्ताचल गामी होने के अनन्तर निस्तब्धता धीरे धीरे बढ़ रही थी। आकाश में तारों की चमक रात्रि के निविड़ अन्धकार में अपूर्व शोभा पा रही थी। सुगन्धयुक्त मन्द वायु के झीने झकोरे पसीने में तर-बतर लोगों के शरीरों को शीतल बना रहे थे। खेतड़ी-नरेश अपने सहचरों सहित उद्यान-स्थित

२. इसी के आधार पर १९१९-२० ई. में प्रमथनाथ बसु द्वारा संकलित तथा बँगला में पुनर्लिखित 'स्वामी विवेकानन्द' ग्रन्थ, खण्ड १, सं. १९९४, पृ. १९७-९९) में भी लगभग यही विवरण है।

बँगले में बैठे हुए थे। उस समय राजाजी ने स्वामीजी को भी वहाँ बुलाने की इच्छा प्रकट की। आज्ञा पाते ही एक सेवक दौड़ गया और आदर के साथ स्वामीजी को लिवा लाया। आसनासीन होने पर थोड़ी देर धर्म-चर्चा होती रही। इतने में नर्तकियों का एक दल 'सलाम-मालूम' करने के लिए उपस्थित हुआ। राज्य के आश्रितों, सेवकों और किसी पद के आकांक्षी उम्मीदवारों के लिए प्रात: एवं सायंकाल राजाजी की सेवा में अभिवादन करने के निमित्त उपस्थित होने का साधारण नियम चला आता है। इस अभिवादन का नाम ही 'सलाम-मालूम' करना है। समागत नर्तकियों के दल की एक सुगायिका ने जिसका यौवन-सुलभ चांचल्य प्रौढ़ता की गम्भीरता के रूप में बदल चुका था, गाना सुनाने की आज्ञा माँगी। गाना शुरू होने को था कि स्वामी विवेकानन्द जी अपने स्थान पर जाने के लिए उठे। वेश्या ने हाथ जोड़कर निवेदन किया कि महाराज, आप अवश्य विराजिये, मैं एक भजन सुनाना चाहती हूँ। वह यह ताड़ गयी थी कि मुझे नीच – वेश्या समझकर स्वामीजी यहाँ से उठकर जा रहे हैं। इसलिये उसके निवेदन में कातर-भाव की स्पष्ट झलक दिखलाई दे रही थी। उधर राजाजी ने भी आग्रहपूर्वक बैठने का अनुरोध करते हुए कहा – 'स्वामीजी, इसका गाना सुनकर सभी प्रसन्न होते हैं। आप भी सुनने की कृपा कीजिये। यह भजन सुनावेगी।' स्वामीजी राजाजी के अनुरोध को टाल न सके और अन्यमनस्क होकर बैठ गये। रात के समय गाना खूब जमता है। स्वामीजी स्वयं संगीत-निपुण सुगायक भी थे। एकान्त में जब कभी मौज आती थी, वे भगवद्-गुणानुवाद का कीर्तन किया करते थे। उनके सुमधुर आलाप से सुननेवालों को मंत्रमुग्ध हो जाना पड़ता था। जो हो, गाना आरम्भ हुआ। गायिका ने ताल-स्वर के साथ भक्त कवि सूरदास का एक पद गाया। गाने में वह तन्मय हो गयी। सुननेवाले भी चित्र-वत् बन गये। विलक्षण बिजली-सी दौड़ गयी। भक्त-हृदय की आत्म-निवेदन-भावना-संपुटित वह पद इस प्रकार है –

हमारे प्रभु औगुन चित न धरो,
समदरसी है नाम तिहारो, अब मोहि पार करो ।।
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक परो,
पारस गुन औगुन नहिं चितवै कंचन करत खरो ।।
एक नदिया इक नार कहावत, मैलो हि नीर भरो,
जब दोऊ मिलि एक बरन भये सुरसरि नाम परो ।।
यह माया भ्रम जाल निवारो, सूरदास सगरो,
अबकी बेर मोहि पार उतारो, नहि प्रन जात टरो ।।

"गाना समाप्त हुआ। स्वामीजी गद्‌गद हो गये। उनके नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। स्वामीजी के मुँह से तत्काल निकल पड़ा – ओह, इस पतिता स्त्री ने एक भक्त का पद गाकर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के तत्त्व को हृदयंगम करा दिया है। स्वामीजी ने स्वयं लिखा है – वह गाना सुनकर मैं समझा कि क्या यही मेरा संन्यास है? मैं संन्यासी हूँ और यह एक पतिता नारी है, – यह ऊँच-नीच की भावना – यह भेद-बुद्धि आज भी दूर नहीं हुई? सब प्राणियों में ब्रह्मानुभूति बड़ा ही कठिन कार्य है। चण्डाल की बातें सुनकर भगवान शङ्कराचार्य के मन से भेद-बुद्धि लुप्त हो गयी थी। ऐसी तुच्छ-तुच्छ घटनाओं से कितने महान् फल उत्पन्न होते हैं, इसकी गणना कौन कर सकता है?

"उस वेश्या को सम्बोधन कर स्वामीजी ने कहा – 'माता, मैंने अपराध किया है। क्षमा करो। मैं तुम्हें घृणा की दृष्टि से देखकर यहाँ से उठा जाता था। परन्तु तुम्हारा ज्ञान-गर्भ गाना सुनकर मेरी आँखें खुल गयी हैं।' इसके बाद उस गायिका को स्वामीजी माता कहकर सम्बोधन किया करते थे।"

नर्तकी के जीवन पर प्रभाव

अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित हिन्दी मासिक 'समन्वय' के १९२७ ई. के अंक ८ (पृ. ३८४) में प्रकाशित एक लेख 'स्वामी विवेकानन्द और एक गणिका' के अनुसार – "इस घटना का प्रभाव स्वामीजी के मन पर ही नहीं, वरन् उस गणिका के हृदय पर भी खूब पड़ा। उसने समान सांसारिक वासनाओं से अपने मन को हटाकर भगवान के स्मरण और चिन्तन में उसे लगा दिया। यद्यपि वह गणिका इस संसार में नहीं है, परन्तु स्वामीजी के जीवन की एक घटना से सम्बन्ध होने के कारण वह भी अब अमर हो गई। स्मरण रहे कि महात्माओं का संसर्ग पतितों को भी स्मरणीय बना देता है – सतसंगति महिमा नहिं गोई।"

स्वामीजी की अमेरिकी शिष्या भगिनी क्रिस्टिन अपने संस्मरणों में इस घटना का संक्षेप में वर्णन करने के बाद नर्तकी के जीवन पर इसके प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखती हैं – भजन को "सुनकर युवा संन्यासी अवर्णनीय भाव से विभोर हो उठे। उन्होंने गायिका को आशीर्वाद दिया और नर्तकी ने उसी दिन से अपना वह व्यवसाय त्याग दिया और ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग अपना लिया। ... क्या प्रत्येक नारी उनके लिये जगदम्बा की ही किसी-न-किसी रूप की अभिव्यक्ति नहीं थी? यहाँ तक कि वे गणिकाएँ भी, जिन्होंने धन के बदले अपनी दिव्यता को बेच डाला था? क्या उन्होंने खेतड़ी की नर्तकी में दिव्यता नहीं देखी थी? और इसके बाद उसने स्वयं भी स्वामीजी द्वारा अनुभूत अपने सच्चे स्वरूप को जानकर अपना व्यवसाय छोड़ दिया, पवित्रता का जीवन बिताने लगी और स्वयं भी महान् अनुभूति की अधिकारिणी बनी।"[३]

❖ (क्रमश:) ❖

३. Reminiscences of Swami Vivekananda, 1994, Pp. 182, 198

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(४४) निर्भय ही है मुक्त

चीन में फाह्यान नाम के एक फक्कड़ फकीर हो गये हैं। उनकी ख्याति थी कि उन्हें किसी भी बात का भय नहीं सताता था। वे स्वच्छन्द होकर सर्वत्र विचरण किया करते थे। जंगल से भी निश्चिन्त भाव से चलते हुए वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचते थे। रास्ते में साँप दिखाई देने पर वे उस पर हाथ फेरते थे और साँप चुपचाप आगे निकल जाता था। शेर के दहाड़ने पर भी वे विचलित नहीं होते थे।

एक बार वे जंगल में ठहरे हुए थे। उनके आगमन का समाचार सुनकर लोग उनसे मिलने के लिए उनके पास पहुँचने लगे। एक युवा फकीर भी जब उनके पास पहुँचा ही था कि उसे एक भालू के चिग्घाड़ने की अवाज सुनाई दी। वह भय के मारे काँपने लगा। इस पर फाह्यान हँस पड़े और बोले – "अरे, केवल आवाज से डर गये। जानते नहीं, जो डरता है, ईश्वर उससे प्रसन्न नहीं होते।" युवक ने उत्तर दिया – "रीछ से तो हर कोई डरता है, फिर मैं क्यों न डरूँगा। भय से मेरा गला सूख रहा है। क्या आप मुझे पानी देंगे?"

फाह्यान अन्दर से जब पानी लेकर लौटे, तब तक युवक शान्त हो गया था और पास की एक शिला पर बैठा हुआ था। फाह्यान ने उसे पानी दिया और उस शिला पर उन्होंने 'नमो बुद्धाय' लिखा। तब वह फकीर उठ खड़ा हुआ, मगर उसने इस बात का ध्यान रखा कि लिखे शब्दों पर उसके पैर न पड़े। फाह्यान ने कहा – "डरो नहीं, निश्चित होकर खड़े रहो।" फकीर बोले – "मगर मैं बुद्ध भगवान के नाम पर पैर कैसे रख सकता हूँ? क्या इससे उनका अनादर न होगा?"

सन्त बोले – "भगवान के नाम से तो डरते हो, मगर क्यों उनसे डरकर सब कर्म करते हो?" उन्होंने आगे कहा – "मनुष्य के मन में सूक्ष्म बन्धन होते हैं – उसकी विश्वासों के उसकी आस्थाओं के। तुम्हें इन आस्थाओं की जंजीरों से मुक्त होना होगा। क्योंकि जिसे जीवन से मुक्त होने की इच्छा है, उसे जीवन के बन्धनों से मुक्त होना होगा। डर कल्पना-जगत् की विचित्र वस्तु है, जो व्यक्ति की विचार करने की क्षमता को कुण्ठित कर देता है। वह उसकी मानसिक स्थिति को असन्तुलित करके व्यक्ति को शोचनीय बना देता है। डरने से मनुष्य बँध जाता है। यदि वह डटकर सामना करे, तो डर स्वयं ही लुप्त हो जाएगा।

(४५) जाके मन कछु बसे न बुराई

सूफी सन्त बशर हाफी पहले शराब मे डूबे रहते थे। एक दिन वे नशे में उन्मत्त होकर जा रहे थे कि उन्हें सड़क पर एक कागज का टुकड़ा पड़ा हुआ दिखाई दिया। उन्होंने उसे उठाकर देखा, तो उस पर लिखा हुआ था – 'बिस्मिल्ला उर्रहमान उर्रहीम। उसे उठाकर वे घर में ले आये और किसी का पैर न पड़े, इस इरादे से उन्होंने उसे एक ऊँची जगह पर रख दिया। उसी दिन हजरत सारन फर्रूखी को सपने में आदेश हुआ कि जाकर बशर से कहो कि जिस प्रकार उसने हमें ऊँची जगह पर रखकर हमें इज्जत दी है, हम भी उन्हें उनकी बुराइयों से पाक करके उन्हें ऊँची जगह देना चाहते हैं। फर्रूखी ने उसे सपना समझ उस पर ध्यान नहीं दिया।

मगर यही ख्वाब जब उन्हें तीन दिन दिखाई दिया, तो वे जब बशर के पास गये, तो उन्हें वे नशे में धुत्त पड़े दिखाई दिये। उन्होंने सोचा कि इस शख्स को तो बुराइयों ने डुबोये रखा है, फिर इस पर अल्लाह की मेहर नजर कैसे पड़ सकती है। मगर 'खुदा की मर्जी' मानकर उन्होंने सन्देश सुना दिया। बशर ने सुना तो वे खुदा की मेहराबानी पर आश्चर्य करने लगे। सोचने लगे कि एक जरा-सी बात पर खुदा की उस पर इनायत हो रही है। और उन्होंने तौबा की कि अब वे शराब से हमेशा के लिए दूर रहेंगे और अपनी शेष जिन्दगी नेकी में गुजारेंगे। उन्होंने यह भी प्रण किया कि उन्होंने यह निश्चय हाफी (नंगे-पैर) रहने की हालत में किया है, इसीलिए जिन्दगी भर हाफी रहेंगे। आगे चलकर वे सूफी सन्त हो गये और लोग उन्हें 'हाफी' कहकर पुकारने लगे।

नशा फिर शराब का हो या किसी और चीज का, वह नशा ही होता है। मनुष्य के एक बार उसके अधीन हो जाने पर वह बढ़ता ही जाता है और फिर उसे कहीं का तब तक नहीं छोड़ता, जब तक कि उसकी मौत न हो जाए। कहा भी है – 'नशे का अंजाम, मौत का पैगाम।' मगर यदि मनुष्य बुराई के बारे में सोचे-विचारे और अपने व्यवहार में सुधार लाने का निश्चय करे, तो उसकी परिस्थिति और जीवन में बदलाव आ जाता है और वही उसके उत्थान-पतन का निर्धारण करता है।
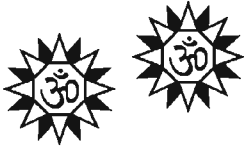
मेरी स्मृतियों में विवेकानन्द (१४)
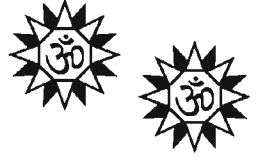
भगिनी क्रिस्टिन

(जो लोग महापुरुषों के काल में जन्म लेते हैं और उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आते हैं, वे धन्य और कृतकृत्य हो जाते हैं। भगिनी क्रिस्टिन भी एक ऐसी ही अमेरिकन महिला थीं। स्वामीजी-विषयक उनकी अविस्मरणीय स्मृतियाँ आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के १९३१ के जनवरी से दिसम्बर तक, फिर १९४५ के स्वर्ण-जयन्ती विशेषांक तथा १९७८ के मार्च अंकों में प्रकाशित हुई थीं। बाद में वे 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में संकलित हुई, वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

डिट्रायेट में स्वामीजी – १८९६

स्वामीजी एक बार फिर (१९०० ई. की जुलाई में) डिट्रायेट आनेवाले थे, परन्तु इस बार उनका संक्षिप्त आगमन केवल विदाई लेने के लिये था।

जब उनसे पूछा गया कि व्याख्यान के लिये वे क्या तैयारी करते हैं? तो उन्होंने कहा – कुछ भी नहीं। परन्तु वे बिल्कुल बिना तैयारी के भी नहीं जाते थे। उन्होंने बताया कि प्राय: ऐसा होता है कि व्याख्यान के पूर्व एक वाणी उन्हें सब कुछ सुना देती है। अगले दिन वे अपनी सुनी हुई बातें दुहरा देते हैं। उन्होंने यह नहीं बताया कि उन्हें किसकी वाणी सुनाई देती थी। वह चाहे जो भी रही हो, पर वह उनकी अपनी एकाग्रता की तीव्रता से उत्पन्न होनेवाली सामान्य क्षमता की अपेक्षा महान् किसी आध्यात्मिक शक्ति की अभिव्यक्ति ही तो थी। यह बिल्कुल अचेतन रूप से हो रहा होगा। (क्योंकि) उनके मुख से निकले हुए शब्दों में जो ऊर्जा, शक्ति, तथा गरिमा विद्यमान रहती, वह किन्हीं लिखे हुए शब्दों में कदापि नहीं आ सकती थी। यदि उस शक्ति के प्रवाह की धारा को किसी की ओर उन्मुख कर दिया जाय, तो उसके अपने विचारों, मूल्यों तथा व्यक्तित्व का क्या होगा! वह प्रबल प्रवाह जब पूरे विश्व को हिलाने में सक्षम था, तो फिर एक अदना-सा मानवीय व्यक्तित्व उसके समक्ष मात्र एक तिनके के समान था। यह एक ऐसी शक्ति थी, जो अपने सामने पड़नेवाली हर चीज को बहाकर ले जा सकती थी – पुराने विचार, जीवन के उद्देश्य तथा आदर्श बदल जाते, पुरानी प्रवृत्तियाँ एक नवीन धारा में परिणत हो जाती और पूरे व्यक्तित्व का रूपान्तरण हो जाता।

वह कौन-सी चीज थी, जो उनके भीतर से नि:सृत होती थी, जिसे सभी महसूस कर सकते थे, पर कोई वर्णन नहीं कर पाता था। शरीर की भौतिक शक्तियों को आध्यात्मिक शक्ति में रूपान्तरित करने पर उत्पन्न होनेवाली जिस रहस्यमय शक्ति का वे प्राय: उल्लेख किया करते थे, क्या यह वही 'ओजस्' नाम की शक्ति थी? यह रूपान्तरण होने पर व्यक्ति में इतनी महान् शक्ति आ जाती है कि वह पूरी दुनिया को हिला सकता है। उसका कहा हुआ हर शब्द ऊर्जा से युक्त होता है। जिसके अन्दर यह शक्ति होती है, वह यदि भले ही केवल कुछ ही वाक्य बोले, पर वे काल के अन्त तक सारगर्भित बने रहते हैं। और जिस वक्ता में यह शक्ति नहीं है, वह चाहे मनुष्य की भाषा में बोले या देवताओं की भाषा में, पर वह मात्र वाद्ययंत्रों की ध्वनि के तुल्य ही है। स्वामीजी के मतानुसार इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि क्यों एक विनम्र बढ़ई के कुछ सहज वाक्य आज दो हजार वर्षों बाद भी जगत् में सबल बने हुए हैं, जबकि उस काल के विद्वानों तथा पण्डितों द्वारा कथित सारी बातें भुलायी जा चुकी हैं।
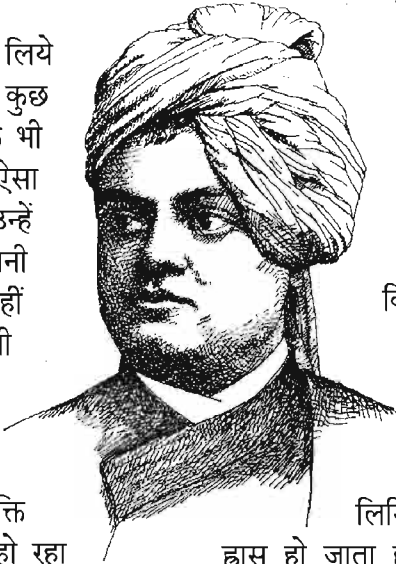
लिखित शब्दों में इस शक्ति का कुछ अंश में ह्रास हो जाता है, यह बात वे लोग भलीभाँति जानते हैं, जिन्हें स्वामीजी के भाषण सुनने का सौभाग्य मिला था। ऐसे अवसरों पर उत्पन्न होनेवाली आध्यात्मिक शक्ति इतनी प्रबल होती कि श्रोताओं से कुछ लोग चेतना के सामान्य स्तर से उन्नीत हो जाते और उनके लिये व्याख्यान का केवल प्रारम्भिक अंश ही याद रखना सम्भव हो पाता। कुछ काल के बाद उनका मन मानो शून्य हो जाता। तब सामान्य मन कार्य करना बन्द कर देता और उसके स्थान पर, बुद्धि तथा स्मृति के अतीत चेतना का एक उच्चतर स्तर सक्रिय हो जाता। शायद काफी काल बाद, यह पता चलता कि जिस समय मन शून्य-सा प्रतीत हो रहा था, उस समय उसमें एक विशेष रूप से गहरा संस्कार अंकित हो रहा था।

वक्ता के रूप में वे इतने लोकप्रिय थे कि उनके व्याख्यान आयोजित करने के लिये ऐसा कोई स्थान नहीं मिला, जिसमें उन्हें सुनने के इच्छुक सारे लोग समा पाते। स्वामीजी के डेट्रायेट में द्वितीय बार आगमन के अवसर पर एक व्यक्ति ने उनके व्याख्यानों के लिये एक ऐसा हॉल ढूँढ़ने का प्रयास किया था जिसमें सारे श्रोता बैठ पाते, उसने असफल होने के

बाद कहा था – "वे तो एक सरकस का तम्बू भी भर सकते हैं।" इन व्याख्यानों के उपरान्त उनके डेट्रायेट-प्रवास के अन्तिम रविवार को उनके मित्र रब्बी ग्रासमैन ने उन्हें अपने टेम्पल बेथ-एल में व्याख्यान के लिये निमंत्रित किया था। निर्धारित समय के एक घण्टा पूर्व ही टेम्पल की सारी कुर्सियाँ भर गयीं और उसके द्वार बन्द कर देने पड़े। सैकड़ों लोगों को वापस लौटा दिया गया। बाकी लोग इसके विरोध में दरवाजों पर दस्तक देते रहे और भीतर जाने के लिये हर प्रकार से प्रयास करते रहे। व्याख्यान शुरू होने के ठीक पूर्व शोरगुल इतना बढ़ गया कि लगा मानो भीड़ अन्दर घुस आयेगी। परन्तु वे ज्योंही मंच पर आये श्रोताओं में शान्ति छा गयी। मैंने अपने पास ही एक विदेशी आवाज में फुसफुसाहट सुनी – "अहा, वे कितने सुन्दर हैं!" और सचमुच ही ऐसा अलौकिक सौन्दर्य कभी देखने में नहीं आया था। उस समय वह शक्ति इतनी स्पष्ट न थी। अब वह एक दिव्यतर आभा और उस जगत् के लिये एक गहनतर करुणा में परिणत हो चुकी थी, जिससे वे शीघ्र ही विदा लेनेवाले थे। इसीलिये भारत में देवताओं को चित्रित करते समय – बहुधा उनके वस्त्रों तथा पगड़ियों को सूर्य की घनीभूत स्वर्णिम किरणों से बनाया जाता है और उनके मुखमण्डलों पर एक दिव्य आभा तथा एक गहन सरोवर की-सी आन्तरिक प्रशान्ति छायी रहती है। वे उठकर खड़े हुए और भव्य सत्यों को ऐसी वाणी में प्रस्तुत किये, जो उनके व्यक्तित्व, ध्वनि तथा सन्देश के साथ सुन्दर रूप से समायोजित हो रही थी। वे अपने श्रोताओं के मन को एकाग्रता की जिस गहराई में ले गये थे, उससे विमुख करने की क्षमता किसी में भी न थी।

गुरुतत्त्व

अमेरिका में वे प्राय: अद्वैतवाद का प्रचार करते थे। वहाँ पर वे शायद ही कभी अपने गुरुदेव के बारे में बोले थे। दक्षिणेश्वर के उन सहज-सरल ब्राह्मण ने उनके जीवन को जैसे प्रबल रूप से प्रभावित किया था, उसके विषय में वहाँ शायद ही किसी को आभास मिला रहा हो। यहाँ तक कि अपने प्रति परम सहानुभूतिशील लोगों के समक्ष भी वे बड़े संकोच के साथ यह प्रसंग उठाते थे। परन्तु इस सम्बन्ध की गहनता के विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता था। इसके द्वारा हमें 'गुरु' शब्द के तात्पर्य की प्रथम झलकियाँ मिलीं। इसके साथ ही उन्होंने हमें वह सब भी बताया जो शास्त्रों में लिखा और जो कुछ युगों से चली आ रही भारत की सन्त-परम्परा से निर्मित हुआ है। यह सब कुछ उनके मन की कड़ाही में पकने के बाद, अपने गुरु के प्रति उनकी निष्ठा तथा भक्ति एक अति गहन तात्पर्य से समृद्ध थी। यह उससे भी कहीं अधिक थी। इसने हम लोगों में वैसे ही भाव तथा दृष्टिकोण को जन्म दिया और हम लोगों तथा हमारे गुरुदेव के बीच एक वैसा ही सम्बन्ध जोड़ दिया। इसने हमारे समक्ष एक अत्युच्च आदर्श स्थापित किया।

उन दिनों ये विचार हमें कैसे नवीन प्रतीत होते थे! पहला महान् विचार था कि गुरु को ब्रह्मज्ञ होना चाहिये। यही सबसे महत्त्वपूर्ण योग्यता है, क्योंकि केवल ब्रह्मज्ञानी में ही आध्यात्मिकता का संचार करने की क्षमता होती है। पश्चिम की प्रोटेस्टेंट भावधारा से अनुप्राणित मन के लिये गुरु से शिष्य में आध्यात्मिकता का संचार एक अद्भुत तथा मोहक विचार था। क्या आध्यात्मिकता का संचार किया जा सकता है! तब तो इसके द्वारा ईसा की शिष्य-परम्परा की व्याख्या हो जाती है। इसी कारण रोम का चर्च आज भी विश्वास करता है कि पीटर की आध्यात्मिक शक्ति एक से दूसरे पोप में संचरित होती आयी है। जो भी हो, आज भारत में विश्वास ही नहीं, बल्कि निश्चित रूप से माना जाता है कि गुरु अपने शिष्य में अपनी आध्यात्मिकता का संचार कर सकते हैं।

फिर यह विचार कि 'प्रत्येक व्यक्ति का अपना निजी मार्ग है, जो उसके गुरु को ज्ञात है' और यह कि उसके संस्कार या प्रवृत्तियाँ सूचित करती हैं कि उसे भक्ति-उपासना का मार्ग अपनाना चाहिये या योग द्वारा मनोनिग्रह का, या ब्रह्मज्ञान का या निष्काम सेवा का। वैसे तो सभी मार्ग लक्ष्य तक पहुँचाते हैं, परन्तु इनमें से कोई एक ही साधक के लिये सबसे कम बाधावाला मार्ग होगा। शिष्य को मार्ग पर डालने के बाद गुरु एक स्नेहमयी माता के समान उसे खतरों के प्रति आगाह कर देते हैं और ऐसी अनुभूतियों के बारे में सूचित कर देते हैं, जो उसे भीत या विस्मित कर सकती है।

गुरु मानो ज्ञानद्वार के रक्षक हैं, शिष्य को प्रवेश से रोकने के लिये नहीं, अपितु उसके निराधार भयों से रक्षा करने के लिये। शिष्य उनके पास साहस पाने जाता है। उनके समक्ष शिष्य अपने आन्तरिक विश्वास को खोलता है और अपनी उन अनुभूतियों को प्रकट करता है, जिन्हें किसी भी अन्य को बताना निषिद्ध है। स्वामीजी ने बताया कि उसका मंत्र, उसके इष्ट, उसकी अनुभूतियाँ secret (गोपनीय) नहीं, अपितु sacred (पवित्र) होंगी। उसमें गुरु के प्रति परम भक्ति और अटल श्रद्धा होनी चाहिये। एक बार उन्होंने पूछा था – "मेरा आदेश होने पर क्या तुम इस खिड़की से बाहर कूदने को तैयार हो?" ऐसी निष्ठा से युक्त वे केवल कुछ ही शिष्य चाहते थे। अपने कार्य में उन्हें ऐसी ही गुणवत्ता की जरूरत थी।

वे बारम्बार गुरु गोविन्द सिंह की कथा बताते, जिन्होंने अपने शिष्यों की चरम परीक्षा लेते हुए पूछा था कि उनमें से कौन मृत्यु-पर्यन्त उनमें विश्वास रख सकेगा! एक उठकर सामने आया। वे महान् नेता उसे अपने तम्बू में ले गये और

कुछ मिनटों बाद हाथों में लहू टपकती हुई तलवार लिये बाहर आये। पुन: उन्होंने उनके विश्वास को चुनौती दी और पुन: एक उठकर उनके साथ तम्बू में गया और वापस नहीं लौटा। यही घटना कई बार दुहरायी गयी और पाँच लोग तम्बू में जाकर नहीं लौटे। इसके बाद उन्होंने तम्बू का परदा हटा दिया और सबने देखा कि उनके साथी सुरक्षित तम्बू में बैठे हैं और वहीं गुरु द्वारा मारा हुआ एक बकरा पड़ा है। मृत्यु-पर्यन्त श्रद्धा रखनेवाले ऐसे शिष्यों के साथ रहते गुरु गोविन्द सिंह ने जो महान् कार्य सम्पन्न किया, उसमें आश्चर्य की क्या बात है! क्योंकि स्वामीजी प्राय: ही कहा करते थे –

"गुरु अद्‌भुत हो और शिष्य भी अद्‌भुत हो।"

"अपने गुरु की ईश्वर के रूप में पूजा करो। वे तुम्हें उस पार ले जायेंगे। हर हालत में उन पर विश्वास करो। उनमें इस प्रकार का विश्वास रखो – 'यद्यपि मेरे गुरु मदिरालय में जाते हैं, तथापि वे मेरे लिये नित्यानन्द प्रभु हैं।' "

"केवल जो लोग सुषुम्ना नाड़ी (योग-मार्ग) पार कर जाते हैं, वे ही आत्मा तक पहुँचते हैं।"

"उन्हें जानने के लिये एक गुरु के पास जाना चाहिये।"

"गुरु वे माध्यम हैं, जिनके द्वारा आध्यात्मिक प्रभाव तुम्हारे पास पहुँचता है।"

वे स्वयं महान् थे और उनकी उपस्थिति में कोई अपने को हीन नहीं समझता था। जो लोग भी उनके सम्पर्क में आये, उन सबको वे एक अगम्य रूप से महानता का बोध कराते थे। क्या इसका यह कारण था कि उन्होंने दूसरों में केवल श्रेष्ठता देखना और उनके दोषों तथा दुर्बलताओं को नजरन्दाज करना ही सीखा था? शायद इसका कारण इससे कहीं अधिक गहरा था। स्वयं को आत्मा के रूप में अनुभव करते हुए वे निरन्तर दूसरों में भी उसी दिव्य आत्मा को देखने का प्रयास करते थे। छोटी-मोटी भूलें क्षणस्थायी थीं, परन्तु वह आत्मा शाश्वत और चिर जाज्वल्यमान थी। हम अपने को जितना जानते थे, वे हमें उससे कहीं बेहतर रूप से जानते थे। किस प्रकार वे सतत उस सर्वोच्च सत्य की घोषणा करते रहते थे – "अपने आपको दुर्बल समझना ही सबसे बड़ा पाप है। जान लो कि तुम ब्रह्म हो; तुमसे महान् कोई भी नहीं है। तुम जिसे शक्ति देते हो, केवल वही शक्तिमान हो सकता है। हम सूर्य, तारों और ब्रह्माण्ड के भी अतीत हैं।"

दैहिक बन्धन

वे निरन्तर चहलकदमी करते रहते। कोई-कोई कहता – "स्वामीजी बेचैन हैं, बड़े बेचैन हैं।" परन्तु यह किसी ऐसे व्यक्ति की बेचैनी न थी, जिसे यह न पता हो कि वह क्यों बेचैन है और वह चाहता क्या है! वे भलीभाँति समझते थे कि उन्हें क्या बेचैन बनाये हुए है। वे उसे सहज युक्तिपूर्ण भाषा में समझा भी सकते थे। अपनी दिव्यता, अपनी वास्तविकता के प्रति सचेत एक महान् मुक्तात्मा स्वयं को इस हाड़-मांस के पिंजर में आबद्ध महसूस कर रहे थे। शरीर का बन्धन उनके लिये यंत्रणा थी। वन में स्वेच्छया विहार करनेवाले सिंह को लाकर पिंजरे में रखने पर वह कभी अपनी स्वाधीनता की महिमा को विस्मृत नहीं कर सकता। वह बेचैनी के साथ सीखचों के भीतर प्राप्त छोटी-सी जगह में ही चहल-कदमी करता रहता है। वे भी मानो हाड़-मांस के पिंजरे में आबद्ध एक सबल मुक्तात्मा थे। उनकी आबद्ध महिमा बाहर आने को संघर्ष कर रही थी। यह सत्य है कि हम सभी इसी बन्धन में फँसे हुए हैं, परन्तु शायद ही कोई व्यक्ति इसे जानता है। हम अपने कारागार को ही जकड़े रहते हैं। हम इसे छोड़ नहीं सकते। शायद ही कुछ लोग समझ पाते हैं कि "बढ़ते हुए बालक को ही ऊपर से बन्दीगृह की छाया घेरना आरम्भ कर देती है।"

परन्तु हमने अपनी आँखों से एक ऐसे व्यक्ति को देखा, जो पूर्णत: सचेत था, जो जगदातीत महान् स्वाधीनता का अनुभव करता था, जिसके लिये यह बन्धन एक यंत्रणा थी और जो निरन्तर इसे तोड़ने के लिये संघर्ष कर रहा था। इस संघर्ष के साक्षी हम लोगों के लिये किन्हीं शब्दों की आवश्यकता न थी। बिना किसी उपदेश के ही हमारी आँखें खुल चुकी थीं। "मैं शरीर नहीं हूँ, मैं मन नहीं हूँ।" हमने सोचा – "तो इसका तात्पर्य यह है कि मैं शरीर तथा इसकी दुर्बलताओं के परे हूँ, मन तथा इसकी सीमाओं के अतीत हूँ, क्योंकि – **सोऽहम् सोऽहम्** – मैं वही हूँ, मैं वही हूँ।"

❖(क्रमशः)❖

माँ श्री सारदा देवी (६)

आशुतोष मित्र

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

प्रसन्न मामा ने सिमला स्ट्रीट में एक छोटा-सा मकान किराये पर लेकर गाँव से बड़ी मामी और उनकी दो बेटियों – नलिनी तथा माकू और (नलिनी के पति) दामाद प्रमथ को लाकर उसमें रखा था। पहले हम प्रमथ के विवाह के प्रसंग में उनके नाम का उल्लेख कर चुके हैं। इस बार वे ससुराल में आकर बीमार पड़ गये। खबर मिलने पर माँ के आदेश से मैं उन्हें देखने गया। बीमारी सामान्य न थी। खाँसी के साथ सदा बुखार रहता था। शरत् महाराज तथा मास्टर महाशय की सलाह पर दो विख्यात डॉक्टरों को बुलाना निश्चित हुआ। वे दोनों आपस में सलाह करके एक साथ चिकित्सा करेंगे।

डॉक्टरों के आने के दो घण्टे पूर्व सिमला स्ट्रीट से होकर प्रसन्न-मामा के घर की ओर जाते समय एक मकान के बाहर एक साइनबोर्ड पर लिखे एक डॉक्टर के नाम पर दृष्टि पड़ी। नाम देखकर याद आया, इनसे तो मेरा बचपन का परिचय है। उस समय भी यथेष्ट समय रहने के कारण भीतर बैठकखाने में गया और हाथ में एक हाइपोडर्मिक सूई लिये उन युवक डॉक्टर से भेंट की। उनके स्वागत करके बैठने के बाद देखा कि वे स्वयं ही इंजेक्सन ले रहे हैं। इस पर मैंने पूछा – "आपको क्या कोई बीमारी है?

उत्तर की प्रतीक्षा करने को वे कहकर नंगे बदन एक तकिये का सहारा लेकर चुपचाप बैठ गये। लगा, कुछ सोच रहे हैं। सहसा तेजी से तकिया फेंककर पास आ बैठे और अस्फुट स्वर में बोले – "हाँ, कहूँगा, सब कहूँगा – नहीं तो आप इस समय आते क्यों? आपको बताना पड़ेगा।" मानो और भी कुछ कहने जा रहे थे। फिर चुप हो गये। लेखक को लगा कि इंजेक्सन लेने के कारण उनको मस्तिष्क-विकार हो रहा है। फिर मानो स्थिर होकर बोले – "तुम मेरे मित्र हो, – हितैषी हो – नहीं तो इस समय आते ही क्यों? मैंने सोचा है कि तुम्हें सब बताना होगा।"

यह सुनकर मुझे लगा – लगता है इनकी कुछ गोपनीय बात है, जिसे वे बताना चाहते हैं और वह बात शुरू होने पर पूरी होने में देर लग सकती है और जिस काम से मैं निकला हूँ उसमें अब विलम्ब नहीं है। और प्रतीक्षा करना अनुचित समझकर मैंने उनसे कहा, "आपकी बातें मैं लौटकर सुनूँगा – पास में ही एक बड़ा जरूरी काम है – उसे निपटाने के बाद आकर सूनूँगा, चर्चा भी होगी। मुझे तत्काल जाना होगा।" मुझे क्या और कहाँ काम है, आदि पूछने के बाद वे तत्काल हम लोगों के साथ उस मकान की ओर चल पड़े।

मैं रास्ते में बोला – "परन्तु आपकी फीस मैं नहीं दे सकूँगा।" उन्होंने उत्तर दिया – "मुझे किसी ने बुलाया नहीं है, मैं तो स्वयं जा रहा हूँ।" उस समय तक दोनों पूर्वोक्त डॉक्टर नहीं पहुँचे थे। उन्होंने रोगी की विशेष रूप से परीक्षा की और यह कहकर चले गये कि उन-दोनों चिकित्सकों के आने पर इन्हें भी बुला लिया जाय।

यथासमय दोनों डॉक्टरों के आने पर मैं अपने नये मित्र को भी बुला लाया। ये मित्र उन डॉक्टरों की अपेक्षा काफी जूनियर थे। आकर छात्रों की भाँति एक कोने में खड़े रहे। विज्ञ डॉक्टरों ने परीक्षण के बाद राय दी, "टायफायड है, तो भी चिकित्सा शुरू करने के पूर्व रक्त-परीक्षण उचित होगा। रक्त-परीक्षण का फल आने के बाद ही चिकित्सा होगी।" अभी तक मित्र चुप थे, अब पास आकर श्रद्धापूर्वक बोले, "रक्त-परीक्षण उचित है, पर साथ ही थूक की भी जाँच कराना ठीक रहेगा। मैंने जो देखा है, उससे लगता है कि डबल निमोनिया है।" विज्ञ डॉक्टरों ने पुन: परीक्षा की और थूक का नमूना लेकर चले गये। इस बीच मास्टर महाशय वहाँ बराबर उपस्थित रहे। वे नये डॉक्टर को नहीं पहचानते थे।

मित्र लेखक को साथ लेकर अपने घर लौटे। रोगी के बारे में पहले बोले, "यदि मेरा निर्णय ठीक है और यदि मुझसे चिकित्सा कराना चाहते हों, तो बताइये, मैं इलाज करूँगा – मुझे कुछ देना नहीं होगा। लेकिन एक बात मैं पहले ही बता दूँ, जैसा कहूँगा ठीक वैसा ही करना होगा। इन गाँव के अशिक्षितों पर सेवाभार सौंपने से काम नहीं चलेगा – तुम यदि सेवा करो, तो मैं तैयार हूँ।"

इतने बड़े डाक्टरों के समक्ष मित्र की निर्भय स्पष्टवादिता देखकर उनके प्रति मेरे मन में श्रद्धा उपजी और (यदि वे सत्य सिद्ध हुए तो) मन-ही-मन चिकित्सा शास्त्र में उनकी

कुशलता के प्रति प्रशंसा का भाव जागा।

चाय लाकर मित्र ने दरवाजा बन्द कर दिया। दोनों चाय-पान के साथ-साथ बातें करने लगे। उन्होंने भूमिका बाँधते हुए कहा – "मैं स्वयं नहीं जानता कि तुम्हें क्यों ये सब बातें बता रहा हूँ, लेकिन बताऊँगा। आज तक किसी को नहीं बताया, पर निश्चय किया है कि तुम्हें ही बताऊँगा और तुम्हें भी सुनना होगा।" इसके बाद कहने लगे – "तुमने मुझे इंजेक्सन लेते हुए देखा है। जानते हो, वह क्या था? – मार्फीन था। मैंने शराब पीना शुरू किया है, अफीम खाना शुरू किया है और अब मार्फीन। मैं एक मिनट भी बिना नशे के रहना नहीं चाहता – हमेशा नशे में डूबे रहना चाहता हूँ।" मित्र उठे और दराज खोलकर मुझे शराब की बोतल अफीम की गोलियाँ दिखायीं।

मुझसे रहा नहीं गया। मैंने पूछा – "क्यों भाई? ऐसा क्यों कर रहे हो?"

उत्तर मिला – "क्यों कर रहा हूँ, इतना जानने से ही तो हो गया।"

– "यह तो आत्मघाती है, भाई, यह तो तुम खुद ही समझते हो।"

– "हाँ, समझता हूँ और जान-बूझकर ही कर रहा हूँ। मुझे जीवित रहने की कोई आवश्यकता नहीं, जीने की इच्छा भी नहीं है, इसीलिए इसे समाप्त कर रहा हूँ।"

उनकी मर्मस्पर्शी बातों से मैं इतना अभिभूत हो गया कि अपने आपको रोक नहीं सका और उठकर उन्हें आलिंगन में लेकर अनुनयपूर्वक बोला – "बोलो भाई, मुझे अपना जानकर कहो – तुम्हें क्या दुख है, जिसके कारण इस हद तक आ पहुँचे हो? मेरा अपना कुछ भी नहीं है, तो भी एक वस्तु ज्ञात है, जिसकी शरण लेने से सभी दुखों से मुक्ति मिल जाती है, सारी ज्वाला शान्त हो जाती है और हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है।" मुझे बिठाकर उन्होंने अपने हृदय के द्वारा खोल दिये। पता चला कि उनकी पत्नी की अकृतज्ञता ही इस सर्वनाश का मूल है।

मित्र से विदा लेकर मैं मेडिकल कॉलेज गया और वहाँ से रक्त तथा थूक की रिपोर्ट ले आया। देखकर वे बोले – "मेरा अनुमान ठीक ही निकला। अब जैसी आप लोगों की इच्छा।" मैं उनसे विदा लेकर चल पड़ा।

लौटकर माँ से रोगी तथा मित्र के बारे में आद्योपान्त वर्णन करने पर, उन्होंने मित्र को ही प्रमथ की चिकित्सा का भार देने को कहा और अगले दिन से ही उनकी चिकित्सा शुरू हो गयी। वे केवल चिकित्सा करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते थे, अपितु तब तक अपने दवाखाने से दवाइयाँ भी देते रहे, जब तक कि रोगी पूरी तौर से ठीक नहीं हो गया।

लगभग सारे दिन मुझे रोगी की सेवा में रहना पड़ता। केवल दोपहर में दो घण्टे के लिए मित्र मुझे अपने बैठकखाने में ले जाते। इस प्रकार मिलने-जुलने से हमारे बीच प्रगाढ़ मित्रता स्थापित हो गयी और इसके फलस्वरूप वे जिन घातक दवाओं का सेवन करते थे, उनका उन्होंने एक-एककर त्याग कर दिया और अपने हृदय को स्वच्छ काँच की भाँति निर्मल कर डाला। माँ प्रतिदिन उनके बारे में खोज -खबर लिया करती थीं, लेकिन मित्र अब तक माँ के बारे में विशेष कुछ नहीं जान सके थे – बताया भी नहीं गया था।

माँ बीच-बीच में प्रमथ को देखने जाती थीं। वे धीरे-धीरे स्वस्थ हो गये। उन्होंने उपलों पर पकाया हुआ भात खाना शुरू कर दिया था, तभी एक दिन मास्टर महाशय माँ को अपने झामापुकुर के मकान पर ले आये। उस दिन मास्टर महाशय के घर पर इस उपलक्ष्य में एक छोटा-मोटा उत्सव जैसा कुछ हुआ था। माँ के साथ उनकी स्त्री-भक्तिनें और प्राय: हम सभी लोग आये थे।

माँ वहाँ पूजा में बैठी थीं। भोग में अभी देर थी, यह देखकर मैं मित्र के घर गया। उन्हें तत्काल साथ चलने को कहने पर, वे उस समय पहने हुए वस्त्रों में ही घर से चल दिये। उन्होंने सोचा था कि शायद प्रमथ को कुछ हुआ है, अत: बिना कुरता पहने ही धोती के छोर से शरीर को लपेटकर चल दिये। लेकिन दूसरे रास्ते पर चलते देखकर पूछा – "कहा जाना होगा, भाई?" उत्तर मिला – "दीक्षा लेना है, तो चलो। इससे हर प्रकार से कल्याण होगा।" बोले – "मैने तो खा लिया है।"

उत्तर मिला – "माँ जो कहेंगी, वही होगा।"

– "तो मुझे माँ के पास ले जा रहे हो?"

– "हाँ, उनके श्रीचरण ही वह दुर्लभ चीज है, जिसका मैंने पहले दिन ही तुम्हारे समक्ष उल्लेख किया था।"

मित्र निरुत्तर होकर चले। मास्टर महाशय के घर पहुँचकर उन्हें नीचे बैठाकर ऊपर जाकर देखा, माँ की पूजा हो चुकी है, तो भी वे पूजा के आसन पर बैठी हुई थीं। मित्र के आने की बात बताने पर उन्होंने उन्हें ऊपर लाने को कहा। तत्काल ही माँ की शिष्य-मण्डली में शामिल हो जाने से मित्र का मुखमण्डल एक स्वर्गीय सुषमा से खिल उठा। स्पष्ट रूप से देखने में आया कि उनके नेत्रों के बीच अब पूर्ववत् कालिमा न रही – उसकी जगह अब उनके दोनों नेत्र एक अलौकिक ज्योति से भासमान हो उठे। इस समय उन्हें देख दर्शक के मन में स्वत: ही यह श्रुतिवाणी ध्वनित हो उठती –

भिद्यन्ते हृदय ग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षियन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।[२६]

२६. मुण्डक उपनिषद् २/२/८

मास्टर महाशय के बहुत आग्रह करने पर मित्र हम लोगों के साथ भोजन करने बैठे। सर्वप्रथम गोलाप-माँ उन्हें माँ का प्रसाद दे गयीं। मैंने देखा – मित्र ने उसे भक्तिपूर्वक ग्रहण किया। भोजन के बाद वे अपने अति आवश्यक कार्यों को छोड़कर माँ के बागबाजार लौटने की प्रतीक्षा में बैठे रहे। माँ के गाड़ी में सवार होते समय मित्र ने उनकी चरणधूलि ली – माँ उन्हें बागबाजार आने को कह गयीं।

बाद में मैंने हमेशा देखा है कि माँ मित्र को देखकर जरा भी संकोच नहीं करती थीं। हम लोगों के समान ही मित्र के साथ भी नि:संकोच भाव से आचरण करती थीं। यहाँ यह बता देना उचित होगा कि मित्र की दीक्षा के पूर्व तक उनसे जो भी बातें होती थीं, सब माँ की अनुमति से ही होती थीं।

मित्रवर! तुम्हारे बारे में लिखते-लिखते आज अनेक बातें याद आ रही हैं। अब तुम आनन्दधाम के निवासी हो। ...

आज याद आ रहा है कि १९०६-१९०७ ई. में जब तुम्हें पता चला कि मैं पूर्वी बंगाल के अकाल-राहत-कार्य में व्यस्त हूँ, तो तुमने अपनी आजीविका की अवहेलना करके अपने बड़ाबाजार अंचल में द्वार-द्वार घूमकर हजार से भी अधिक रुपये और वस्त्र एकत्र करके भेजा था।

आज याद आ रही है भानु बुआ के नेत्रों में ज्योति लौटाने की; याद आ रही है राममय विश्वास पर शल्य-क्रिया करके उनके प्राण लौटाने की और याद आ रही है जयरामबाटी के बड़े-तालाब में दोनों के कुछ दिन साथ-साथ तैरने की।

आज याद आ रही है उस घटना की, जब हम दोनों माँ के पास बैठे एक साथ भोजन कर रहे थे। उस समय तुमने – 'तुम ब्राह्मण हो और मैं शुद्र' – कहकर जातिभेद की हँसी उड़ाते हुए मेरे पत्तल से अन्न छीन लिया था और उसे देखकर माँ ने कहा था – "तुम दोनों मानो सगे भाई हो!" उत्तर में तुमने कहा था – "यह ठीक ही तो है माँ! हम दोनों आपकी सन्तान हैं – वह बड़ा है, मैं छोटा हूँ।" – आदि आदि। और भी न जाने कितनी बातें आज याद आ रही हैं!

पहले ही कहा जा चुका है कि भगिनी निवेदिता के स्कूल की गाड़ी मिलते ही हम माँ को घुमाने ले जाया करते थे। एक बार कालीकृष्ण महाराज[२७] को माँ का फोटो खिंचवाने की इच्छा होने पर उन्हीं के खर्च (तथा व्यवस्था) से उसी गाड़ी में मैंने माँ को वैन डाइक कम्पनी के चौरंगी-स्थित स्टूडियो में ले जाकर उनका फोटो खिंचवाया था।

(पूर्वोक्त) ललितमोहन चट्टोपाध्याय काकुड़गाछी योगोद्यान के भक्त थे। घटनाक्रम से हमारे साथ बातचीत होने से बीच-बीच में माँ के घर आया करते थे।

उनके वहाँ आने का एक अन्य कारण भी था – बोसपाड़ा लेन में ही इनकी सास भी रहती थीं। ललित ऑफिस जाते समय कभी-कभी अपनी पत्नी को वहाँ छोड़ जाते और रात को ऑफिस से लौटते समय साथ ले जाते। इस उद्देश्य से बोसपाड़ा आने पर वे माँ के घर भी आते। ललित की सास योगीन-माँ के गंगास्नान की संगिनी थीं। इसी प्रकार माँ के बोसपाड़ा के घर में उनके चाचा की मृत्यु के समय ललित को देखा था। उस दिन श्मशानघाट पर मेरे साथ कई घण्टे बातचीत के बाद उनका माँ के घर आवागमन बढ़ गया और वे मेरे मित्र बन गये। धीरे-धीरे घनिष्ठता इतनी बढ़ी कि वे दीक्षा के निमित्त माँ को अपने छुतारपाड़ा लेन के घर ले गये और वहाँ एक छोटे-मोटे उत्सव का आयोजन कर डाला था। मास्टर महाशय, डॉक्टर काँजीलाल[२८] आदि हम कई लोगों को भी निमंत्रण मिला था। माँ के साथ गोलाप-माँ, योगीन-माँ आदि कई भक्त-महिलाएँ भी गयी थीं।

हम लोगों ने वहाँ पहुँचकर देखा कि मास्टर महाशय वहाँ पहले से ही बैठे हुए हैं। मित्र डॉ. काँजीलाल बाद में आये। महासमारोह के साथ ठाकुर की पूजा और भोग-राग आदि होने के बाद मित्र ललित ने पत्नी के साथ दीक्षा ली। उसी दिन से वे माँ और मठ की सेवा में समर्पित हो गये। मैंने देखा – माँ भी ललित और डॉ. काँजीलाल को देखकर बड़ी प्रसन्न होतीं। उन दोनों पर उनका बड़ा स्नेह था।

एक बार ललित सहसा जयरामबाटी जा पहुँचे। जो तीन दिन उन्होंने वहाँ बिताये, उस दौरान माँ हमेशा व्यस्त रहीं कि उन्हें कहाँ बिठायें, क्या खिलायें आदि आदि। जब वे लौटे, तो माँ ने कुछ दूर तक जाकर उन्हें विदा किया था।

एक बार ललित बड़े गम्भीर रूप से बीमार पड़े। डॉक्टर काँजीलाल, डॉक्टर सर्वाधिकारी आदि बड़े-बड़े डॉक्टरों से चिकित्सा करायी गयी। माँ प्रतिदिन सेवक को उन्हें देखने भेजतीं। रोगी की अवस्था संकटापन्न होने पर माँ ने सेवक के हाथ निर्माल्य देते हुए कहा, "निर्माल्य उसके सिरहाने रख देना और कहना कि वह वैद्य की दवा कराये, स्वस्थ हो जायेगा। मैं रोज ठाकुर को तुलसी देती हूँ।" और ललित सचमुच ही वैद्य की चिकित्सा से ठीक हो गये।

कलकत्ते में ग्रामोफोन नया नया ही आया था। ललित ने उसे लाकर कई बार माँ को सुनाया था। कीर्तनिया पन्नारानी का कीर्तन माँ को बड़ा अच्छा लगा था। माँ के कीर्तन अच्छा लगने के कारण बाद में मैंने अपने मित्र श्रीयुत् किरनचन्द्र दत्त के घर से ग्रामोफोन लाकर कई दिनों तक माँ को सुनाया था।

❖ (क्रमश:) ❖

२७. स्वामी विरजानन्द

२८. डॉ. ज्ञानेन्द्रनाथ काँजीलाल

परम सुख की प्राप्ति

स्वामी ध्रुवेशानन्द
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम, राजकोट

प्रत्येक मनुष्य स्वाभाविक रूप से ही सुख, शान्ति और आनन्द चाहता है। किसी को दुख पसन्द नहीं होता। मनुष्य ही नहीं, जीव-जन्तु भी सुख चाहते हैं। सुख अर्थात् दुख की छाया से दूर रहना। श्रीमद्भागवत में हम देखते हैं कि दुख और सुख अलग-अलग स्थान पर हैं, किन्तु भाष्यकारों ने दोनों को अलग-अलग न रखकर एक ही सूत्र में संकलित कर लिया है। उनके मतानुसार आत्यन्तिक परम सुख-प्राप्ति है – आत्यन्तिक दुख-निवृत्ति अर्थात् सभी दुखों से सम्पूर्ण मुक्ति। दुख निर्मूल हो जाने से अनायास ही सुख प्राप्त होता है। वही सुख परम सुख है, किन्तु वह सांसारिक सुख नहीं होता। परमसुख और सांसारिक – भौतिक सुख में काफी अन्तर होता है। परम सुख की प्राप्ति आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता से होती है, जो सच्ची आध्यात्मिक अनुभूति से ही प्राप्त होता है। सांसारिक सुख भौतिक जीवन की सफलता से मिलता है। परम सुख शाश्वत है। सांसारिक या भौतिक सुख क्षणभंगुर है। परम सुख की प्राप्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेम या तीव्र अनुराग से होती है।

नारदीय भक्तिसूत्र में नारदजी भक्ति को परम प्रेम कहते हैं। सामान्य मनुष्य भौतिक वस्तुओं तथा स्वजनों के प्रति प्रेम या अनुराग रखते हैं, किन्तु यह प्रेम भौतिक या लौकिक होता है। भौतिक प्रेम में कभी तीव्रता होती है, तो कभी उसमें क्षीणता आती है और कभी उसका क्षय भी हो जाता है। इस में स्थिरता नहीं होती। अपने स्वार्थ और मनोवृत्ति के अनुसार वह घटता-बढ़ता रहता है। परन्तु परम प्रेम शाश्वत है। सदैव ही सप्राण रहता है। उसमें वृद्धि या क्षय नहीं होता। प्रभु के प्रति प्रेमभाव या भक्ति सदैव तेल की धारा की तरह समभाव से बहती है और इसीलिए परम प्रेम नित्यानन्द प्रदान करता है। परम प्रेम की प्राप्ति परम सुखदायी है।

परन्तु परम प्रेम की प्राप्ति कैसे हो? प्रत्येक जीव परम प्रेम की ही कामना करता है, परन्तु ऐसी स्थिति कैसे प्राप्त की जाए? आत्यन्तिक दुख-निवृत्ति हो, तो परम सुख स्वत: ही मिल जाता है। दुख-निवृत्ति से सुख सहज रूप में मिलता है। परम प्रेम की प्राप्ति के लिए साधन-भजन करने की आवश्यकता ही नहीं रहती। जैसे कमरे में वर्षों से अँधेरा हो, उसमें दिया जलाने से उजाला हो जाता है और अँधेरा दूर भाग जाता है, वैसे ही हृदय में परम प्रेम प्रकट होने से अनायास ही दुख भी दूर होता है। ईश्वर के प्रति अनुराग – भक्ति धीरे-धीरे सांसारिक प्रेम को दूर कर देता है। जैसे-जैसे ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ होता जाएगा, वैसे-वैसे क्रमश: भौतिक जगत का आकर्षण कम होता जाएगा। मोहमाया का पाश शिथिल होते ही अन्त में परम प्रेम के प्रभाव से सांसारिक सुख फीका लगेगा। फिर सांसारिक सुखों में रस नहीं रहता।

भगवत् प्रेम का माधुर्य एवं शाश्वतता और भौतिक – सांसारिक प्रेम की कटुता तथा क्षणभंगुरता के बीच भेद परख कर ही मनुष्य की ईश्वर के प्रति प्रेम-भावना तीव्र बनती है, अर्थात् दोनों के बीच भेद परख कर मनुष्य केवल ईश्वरीय प्रेम के लिए व्याकुल हो जाता है।

ईश्वर के प्रति परम प्रेम मनुष्य को सदैव आनन्द में ओतप्रोत रखता है। वही प्रेम उसे परम शान्ति और परम सुख का अनुभव प्रदान कराता है। जहाँ राम रहते हैं, वहाँ कामनाएँ नहीं होतीं। वहाँ रहता है केवल ईश्वर के प्रति परम प्रेम। उसके मन में फिर कामना-वासना रहती ही नहीं है। ऐसी निर्वासना की उच्चावस्था में उसे ले जानेवाली स्थिति ब्रह्मज्ञान कहलाती है। ब्रह्मज्ञान को ही निर्विकल्प समाधि कहते हैं। परम सुख की प्राप्ति विषयक भागवत की कथा का एक प्रसंग भक्तहृदय का भावग्राही वर्णन करता है –

व्रज के लोग महदंश से श्रीकृष्ण के अपूर्व माधुर्य से मुग्ध हैं और श्रीकृष्ण भी उनके प्रेमाधीन हैं! एक बार सुबह नन्दबाबा के महल के पास एक स्त्री भाँति-भाँति के फल बेचने आयी। 'फल लो रे भाई कोई फल लो!' – ऐसी पुकार करती हुई वह आयी। ये शब्द सुनकर अपने ऐश्वर्य से कभी च्युत न होनेवाले और सर्व फलदाता बालकृष्ण अपनी मुट्ठी में अनाज लेकर, उस फलवाली के पास फल लेने जाते हैं। उस काल में ऐसी वस्तु-विनिमय-पद्धति से क्रय-विक्रय हुआ करता था। बालकृष्ण दौड़ते जा रहे हैं। उनकी छोटी-सी मुट्ठी से अनाज के दाने फिसल कर गिरते जा रहे थे। वे उस फलवाली को फल देने के लिए अनुनय कर रहे हैं। वह स्त्री तो बालकृष्ण की मधुर भाषा, मधुर बाल रूप को देखकर एक अपूर्व आनन्द का अनुभव करते हुए सब कुछ भूल गई।

उसने भक्तिभाव से ओतप्रोत होकर हँसते-हँसते फलों की टोकरी रखकर पूछा – "बदले में तू क्या देगा रे?" लाला ने मुट्ठी खोलकर दिखाया, किन्तु उसमे केवल दो-चार दाने ही बचे हुए थे। उसे देखकर फलवाली ने कहा – "इन दो-चार दानों के बदले में तू फल लेगा? फल के बदले में तू और कुछ दे सकता है?" वह स्त्री इस प्रकार बालकृष्ण के साथ बातें करते हुए एक अद्भुत आनन्द में वात्सल्य भाव से भाव

-विभोर हो नाच उठी। कृष्ण ने कहा – "मुझसे बदले में बिना कुछ माँगे ही लोग मुझे सब कुछ देते हैं। मेरी माँ, मेरे पास-पड़ोस के लोग मुझे कितना दूध, खीर, दही, मक्खन आदि देते हैं। वे लोग तो उसके बदले कुछ भी नहीं माँगते। तो फिर तुम इन फलों के बदले में कुछ क्यों माँगती हो?"

फलवाली तो बालकृष्ण की तोतली बातों को सुनकर भक्ति-भाव से प्रेमाश्रु बहाने लगी। उसके चित्त में अपार वात्सल्य-भाव उमड़ आया और वह कहने लगी – "वह खीर, दही, मक्खन खाने के लिए तू अपनी माँ को 'माँ' कहकर पुकारता है, उसकी गोद में बैठकर खाता है, बिलकुल वैसे ही तू मुझे भी एक बार 'माँ' कहकर बुला, मेरी गोद में बैठ, तो मैं अपने सारे फल तुझे दे दूँगी और सदा के लिए तेरी माँ की दासी बनकर रहूँगी।"

बालकृष्ण ने भी फल-प्राप्ति के लिए बालहठ ठान ली। नटखट नन्दकुमार ने मन-ही-मन सोचा कि एक बार इसे 'माँ' कहूँ और उसकी गोद में बैठूँ, तो इसमें दोष ही क्या है? इससे तो कहीं मेरी माँ छिनी नहीं जाएगी और यह तो मेरी माँ की दासी होने के लिए भी तैयार है। बालकृष्ण ने चारों ओर देखा – जान लिया कि आसपास कोई नहीं है। उन्होंने झट से फलवाली को प्रेम से 'माँ' कहा और उसकी गोद में बैठ गये। वह स्त्री तो 'माँ' के मधुर सम्बोधन से ही भावविभोर हो गई। अपनी गोद में बैठे हुए बालकृष्ण को, लाल को छाती से लगा लिया। उसे सृष्टि का परम सुख, विश्व का परमानन्द, जीवन का सर्वस्व – सब एक ही क्षण में प्राप्त हो गया। जिस सच्चिदानन्द की प्राप्ति के लिए ऋषि-मुनि लोग युगों-युगों तक तपस्या करते हैं, ध्यान-धारणा करते हैं, वे ही सच्चिदानन्द बालकृष्ण के रूप में फलवाली को सहज भाव से सन्तान के रूप में मिल गये!

श्रीकृष्ण फलों को लेकर धीरे-धीरे घर में चले गये और फलवाली श्रीकृष्ण को निहारती रही। मानो चारों ओर व्याप्त जगत् उसकी दृष्टि से लुप्त हो गया हो और हृदय में केवल बालकृष्ण की निर्मल कोमल मूर्ति अंकित हो गई हो। "श्रीकृष्ण ने मुझे 'माँ' कहकर पुकारा और मेरी गोद में खेले" – इन ख्यालों में भाव-विभोर होकर, तन्मय होकर फलवाली भी वहाँ से चली गई। किन्तु वह कहाँ जा रही है? क्यों जा रही है? – यह भी निश्चित नहीं था। सहसा उसे ख्याल आया कि यह खाली टोकरी इतनी भारी क्यों लग रही है? अपनी झोपडी में जाकर टोकरी को नीचे उतारकर रखा, तो देखा – टोकरी में हीरे-मोती-जवाहरात झलमला रहे हैं। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा! वह सोचने लगी – "यह क्या? मैं तो गरीब झोपडी में रहनेवाली हूँ। मेरी टोकरी में यह सब कहाँ से आया?' अचानक उसके चित्त में प्रकाश हुआ और उसे ख्याल आया कि स्वयं भगवान ने बालरूप में आकर यह दिव्य लीला की है। प्रभु लीला का ख्याल आते ही वह गद्गद कण्ठ से बोल उठी – "हे श्यामसुन्दर, हे हृदयसुन्दर, मैं गरीब, अज्ञानी, फल बेचनेवाली, फल बेचकर जीवन-निर्वाह कर रही हूँ, मोहवश मैंने आपसे फल का मूल्य माँगा। तुमने मुझे 'माँ' कहकर बुलाया, मेरी गोद में भी बैठे। इसके सामने ये मणि-रत्न तुच्छ है, मेरे किसी काम के नहीं हैं। आपने तो मुझे ठगा! हे प्रभु, अब मैं तुम्हें कैसे छोड़ सकती हूँ?"

प्रभु-भक्ति में तन्मय होकर उसने अपनी हीरे-रत्नों से भरी टोकरी फेंक दी। मानो संसार के सीमित सुख को छोड़कर परम सुख में लीन हो गई। परम सुख-प्राप्ति के लिए यह भावपूर्ण प्रसंग प्रभुभक्ति करनेवाले भक्तों के लिए पर्याप्त है। प्रभु के सामने हम प्रार्थना करें कि हम सभी को इस जीवन में ही यह अलौकिक परम सुख के आनन्द की अनुभूति हो।

(भावानुवाद – प्रो. कु. निरुपमा एम. रावल, राजकोट)
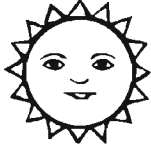
संस्कृत-साहित्य में देशभक्ति
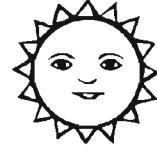
डॉ. महेशचन्द्र शर्मा, भिलाई

वस्तुत: संस्कृति की वाहिका रही है – हमारी देववाणी संस्कृत। संस्कृत का ऐसा प्रताप और प्रभाव है कि यह अनादि काल से भारतीय संस्कृति को समृद्ध करती आ रही है। हम बिना संस्कृत और संस्कृति के राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय एकता की कल्पना तक नहीं कर सकते। वैदिक ऋषिगण राजा तथा प्रशासक के रूप में इन्द्र, वरुण, बृहस्पति आदि देवताओं की स्तुति करते हैं और ऐसा राष्ट्रीय संकल्प व्यक्त करते हैं कि ये समस्त देवगण राष्ट्र को स्थिर रखें। आजकल देश में जैसी गड़बड़ी व अस्थिरता चल रही है, वैसी न हो। सच्चरित्र राजा या शासक नेता ही तपस्या तथा ब्रह्मचर्य द्वारा राष्ट्र का संवर्धन कर सकता है, इसी प्रकार की भावना अथर्ववेद में व्यक्त की गई है –

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।

मानव की जीवन-साधना पर देश की भूमि, संस्कृति, परम्परा, प्रशासन और सामाजिक तेजस्विता आदि सबका समन्वित प्रभाव पड़ता है और उससे जो शक्ति प्रकट होती है, उसी का नाम है – राष्ट्रीयता। इसी क्रम में आगे चलकर देशभक्ति का भाव जागृत होता है। आजादी के सभी दीवाने इस संस्कृत सूक्ति को अपना मूलमंत्र मानते थे – **जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी**। इसका भाव है – ''जननी तथा जन्मभूमि स्वर्ग से भी महान् हैं।''

स्वाधीनता के नायकों की संस्कृत पृष्ठभूमि

वन्दे-मातरम् – का जयघोष संस्कृत से ही निकलकर बँगला के आनन्दमठ से होते हुये जन-गण-मन का कण्ठहार बन सका है। इसका प्रेरणा बीज तो संस्कृत ही है। वह मुम्बई की संस्कृत पाठशाला ही थी, जहाँ मूल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म हुआ। आजादी और भारतीय स्वाभिमान के युवा प्रतीक योद्धा संन्यासी स्वामी विवेकानन्द का पूरा राष्ट्रीय चिन्तन वेद-वेदान्त की पृष्ठभूमि से ही निकला है।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

– उठो ! जागो !! श्रेष्ठ लोगों से सही ज्ञान प्राप्त करो ! जब तक कि लक्ष्य की प्राप्ति न हो, चलते रहो, चलते रहो !

उनका सारा चिन्तन उपनिषदों तथा गीता से ही प्रसूत है। भारतीय स्वाधीनता के महानायक नेताजी सुभाष, वेदान्त और विवेकानन्द-साहित्य के महान् अध्येता थे। 'गीता-रहस्य' के माध्यम से कर्मयोग के प्रणेता होने के कारण ही लोकमान्य पं. बाल गंगाधर तिलक यह सिंहनाद कर सके थे – ''स्वतंत्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर ही रहेंगे।'' ऐसे महान् चिन्तन और संस्कृति से दूर हट जाने के कारण ही आजकल सिद्धान्त बन गया है – घोटाला हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, और हम घोटाले करते ही रहेंगे। हमारी महान् संस्कृत भाषा तथा संस्कृति ही देश की रक्षा कर सकेगी। महात्मा गाँधी ने रामराज्य का आदर्श तथा स्वाधीनता के लिए विनम्र संघर्ष की प्रेरणा भी गीता आदि संस्कृत ग्रन्थों से ही पाई थी। वे संस्कृत को समस्त भारतीय भाषाओं के लिये गंगा के समान मानते हैं। उन्हें आशंका थी कि यदि संस्कृत-गंगा शुष्क हो जायेगी, तो शेष भाषाओं का क्या होगा?

आजादी को समर्पित आधुनिक संस्कृत साहित्य

आधुनिक संस्कृत साहित्य में गाँधी एक महानायक के रूप में उभरे। संस्कृत में गाँधी-सौगन्धिकम्, गाँधी-विजयम् तथा भारत-विजयम् जैसे अनेक महाकाव्य तथा नाटक महात्माजी पर लिखे गये और आज भी लिखे जा रहे हैं। नागपुर के सुप्रसिद्ध संस्कृत महाकवि आचार्य श्रीधर भास्कर वर्णेकर तथा महाराष्ट्र की ही एक अन्य सुप्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कवयित्री पण्डिता क्षमाराव आदि द्वारा प्रणीत सत्याग्रह-गीता, गाँधी चरितम् तथा श्रमगीता जैसे काव्यग्रन्थ महात्माजी को ही समर्पित हैं। स्वातन्त्र्य-वीर विनायक दामोदर सावरकर की संस्कृत-भक्ति किसी से छिपी नहीं है। उन्होंने 'हिन्दू' शब्द की व्याख्या की तथा हिन्दुस्तान की व्याख्या के प्रामाणिक श्लोकों की खोज तथा रचना की। उन्होंने जेल की दीवारों पर कोयले से संस्कृत साहित्य का इतिहास लिखा।

महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, पण्डित नेहरू, नेताजी सुभाष, पं. श्यामाप्रसाद मुखर्जी, पं. दीनदयाल उपाध्याय, श्री लालबहादुर शास्त्री तथा श्रीमती इन्दिरा गाँधी पर भी पर्याप्त ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं और लिखे जा रहे है। पं. श्रीशदत्त पाण्डेय 'श्रीश' का प्रताप-विजयम्, पं. अम्बिका दत्त व्यास का शिवराज-विजयम्, पं. मूलशंकर माणिकलाल याज्ञिक का छत्रपति साम्राज्यम्, भट्ट पं. मथुरानाथ दीक्षित का भारत-विजय-नाटकम्, पं. कृष्णदत्त शास्त्री का दीनदयाल-शतकम्, इन्दिराजी पर लिखे इन्दिरा-शतकम् के अलावा पं. सुधाकर शास्त्री शुक्ल का देवदूतम् और डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर कृत् जवाहर-शतकम् या जवाहर-तरंगिणी आदि भी इस दृष्टि से काफी अच्छी रचनायें हैं।

संस्कृत को भारत का सर्वश्रेष्ठ धन स्वीकार करते हुये पं. जवाहरलाल नेहरू ने अपने ग्रन्थ डिस्कवरी ऑफ इण्डिया में कई जगह रामायण, गीता तथा महाभारत की प्रशंसा की है।

१९८५ में उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी ने पं. जवाहरलाल नेहरू की मेरी आत्मकथा को 'मदीयात्मक' शीर्षक से एक सुन्दर-सा ग्रन्थ प्रकाशित किया है। नई संस्कृत कविता 'पंजरबद्धः शुकः' (पिंजड़े में बन्द तोता) स्वाधीनता के पूर्व लिखी गयी ऐसी सशक्त कविता है, जिसकी कोई सानी नहीं। इसमें पराधीन भारत की जीवन्त तस्वीर पेश की गई है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त ने इसका हिन्दी अनुवाद किया था, जो काफी लोकप्रिय हुआ।

धन्य हो मेरे देश, जहाँ जन्म लेने हेतु देवगण भी तरसते हैं

भारतीय साहित्य में हिमालय का गुणगान हर राष्ट्रकवि ने किया है। महाकवि कालिदास उसे देवात्मा के रूप में याद करते हैं। बाद में राष्ट्रकवि दिनकर तथा जयशंकर प्रसाद आदि अनेक कवियों ने हिमाद्रि को राष्ट्रीय शौर्य के प्रतीक के रूप में गाया। इन सबके पूर्व भी पुराण साहित्य में भारत-राष्ट्र तथा भारतवर्ष में रहनेवाली जनता को सीमांकित तथा परिभाषित किया गया। विष्णु पुराण (२/३/१) के द्वितीय अध्याय में वर्णन मिलता है –

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ।।

– अर्थात् जो समुद्र के उत्तर में तथा हिमालय के दक्षिण में स्थित है, वह भारत-राष्ट्र है तथा वहाँ निवास करनेवाली जनता भारतीय सन्तान है।

अनेक पुराणों में देश की ऐसी ही राष्ट्रीय परिभाषायें दी गई हैं। विश्व के अन्य देश तो भोगभूमि माने गये हैं, जबकि पुराण भारत को कर्मभूमि कहते हैं। भारतीय जीवन-पद्धति स्वर्ग और उपवर्ग (मोक्ष) का साधना मार्ग है। इसीलिये देवगण हमेशा भारत की वन्दना करते हुए यहाँ जन्म लेने के लिये तरसते रहते हैं –

गायन्ति देवाः किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारत भूमि-भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्गभूते,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ।।

(वही, २/३/२४)

जब-जब भारत में असत्य, अन्याय अधर्म तथा अव्यवस्था फैली तब-तब राम, कृष्ण, महावीर, गौतम, कबीर, नानक आदि का अवतरण भी यहाँ हुआ। आज जब अमूल्य तथा अमर बलिदानों के बाद प्राप्त आजादी को गुमाने के लिये देश के अन्दर और बाहर योजनाबद्ध षड्यंत्र चल रहे हैं। घिनौने बहानों के द्वारा हमें फिरकों में बाँटा जा रहा है, तब ऋग्वेद हमारे लिये संगठन-सूत्र देते हुए, हमें अखण्डता और एकता की ओर अग्रसर कराता है। उसका आशय है – हम सब साथ चलें, साथ-साथ वार्तालाप करें तथा परस्पर एक-दूसरे की बातें समझें। हम सबका हृदय और संकल्प समान हो। भाई-भाई से तथा बहन-बहन से द्वेष न करे, अपितु हम वैसे ही पारस्परिक प्रेम करें जैसे गाय नवजात बछड़े से करती है।

नेताओं के उस बहु-प्रचारित हास्यास्पद वक्तव्य का स्मरण हो आता है, जिसमें कहा जाता है कि उनमें मतभेद है, पर मनभेद नहीं। मन और मत अलग-अलग कैसे हो सकते हैं? हमारा अथर्ववेद का ऋषि कहता है – जो भारत भूमि अनेक भाषा-भाषियों मतावलम्बियों व नाना जातियों के लोगों को वैसे ही अपने में धारण किये हुए है, जैसे गाय अपने स्तनों में अनेकों धारायें धारण किये हुए है, वह भारत वसुन्धरा हमें खुशहाली की हजारों धारायें प्रदान करें, एकता और समृद्धि का इससे अच्छा आदर्श क्या हो सकता है? मुझे लगता है इन्हीं सबसे प्रभावित होकर ही कविवर श्री सुमित्रा नन्दन पन्त ने यह लिखा होगा –

सर्व-देश, सर्व-काल,
वर्ग-जति, धर्म-जाल ।
हिलमिल सब हों विशाल,
एक हृदय अगणित स्वर ।।

स्वधीनता सुरक्षित रहे

अलवर के प्रभुदत्त शास्त्री द्वारा विरचित 'भारत-विजय-महाकाव्यम्', प्रज्ञाभारती डॉ. श्रीधर भास्कर वर्णेकर (नागपुर) कृत 'शिव-राज्योदयम्' (महाकाव्य), 'भारतरत्न-शतकम्' तथा 'स्वातंत्र्यवीर-शतकम्', डॉ. उमाशंकर शर्मा त्रिपाठी (देवरिया) कृत 'छत्रपति-चरितम्', श्री माधव अणे (पुणे) कृत 'तिलक-यशोऽर्णवः', श्री विश्वनाथ केशव छत्रे (नासिक) कृत महाकाव्य 'सुभाष-चरितम्' तथा 'भारतीय-स्वातंत्र्योदय-काव्यम्', श्री पं. ब्रह्मानन्द शुक्ल (मुजफ्फरपुर) प्रणीत 'श्रीनेहरूचरितम्', 'गाँधीचरितम्' तथा 'भारतसुषमा', श्री साधुशरण कृत गाँधीचरितम्, श्री पण्डित सुबोधानन्द पन्त (प्रयाग) कृत 'झाँसीश्वरीचरितम्', श्री त्रयम्बक शर्मा भण्डारकर (काशी) कृत 'श्रीस्वामी-विवेकानन्द-चरितम्', विद्यामार्तण्ड द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री कृत 'स्वराज्य-विजय-महाकाव्यम्' आदि संस्कृत कृतियाँ इसी शताब्दी के पाँचवें-छठे दशक में रची गयी हैं। वर्तमान संस्कृत पत्रिकाओं में संस्कृत कविताओं का प्रकाशन जारी है। डॉ. रमाकान्त शुक्ल (दिल्ली) के राष्ट्रगीत 'भाति मे भारतम्' ने दूरदर्शन पर खूब धूम मचाई। अन्ततः पं. गुलाम दस्तगीर अब्बास अली की कविता की दो पक्तियाँ –

हिमालयनगादयः सागरोऽपि तथैव च ।
संरक्षणे च सततं सन्नद्धाः खलु भारते ।।

❑❑❑

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में विवेकानन्द जयन्ती समारोह – २००६

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर में छात्र-छात्राओं की प्रतिभा को जगाने तथा उनके व्यक्तित्व का विकास करने हेतु प्रति वर्ष की भाँति इस वर्ष भी १ से ९ जनवरी, २००६ तक आश्रम के सत्संग-भवन में विभिन्न प्रकार की प्रतियोगितायें आयोजित की गईं। इन प्रतियोगिताओं में अनेक विद्यालयों, महाविद्यालयों तथा पं. रविशंकर विश्वविद्यालय के छात्रों ने उत्साह के साथ भाग लिया तथा अपने अमोल विचार प्रस्तुत किये। संक्षेप में प्रस्तुत हैं उनमें से कुछ विशेष भाव-कुसुम –

१ जनवरी को अन्तर्महाविद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता आयोजित की गई, जिसका विषय था – **'विश्व-मानव विवेकानन्द'**। विषय का प्रतिपादन करते हुये प्रथम पुरस्कार विजेता प्रवेश शर्मा ने कहा – ''स्वामी विवेकानन्द जी ने दीन-दुखियों के प्रति मात्र सहानुभूति का ही नहीं, अपितु समानुभूति का भी बोध किया था। उनके उपदेशों में मानव-धर्म, मानव-सेवा की भावना थी।'' हिमांशु जैन ने कहा – ''वे चाहते थे कि और भी लाखों विवेकानन्द पैदा हों, जो विश्व के करोड़ों-अरबों लोगों की सेवा करें।'' कु. विनीता भण्डारी ने कहा – ''स्वामीजी ने बौद्ध, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई सबके प्रति समान भावना दिखाई। उनका उद्देश्य था इस पृथ्वी पर सर्वांगपूर्ण संस्कृति का अभ्युदय।'' सत्र की अध्यक्षता करते हुये पूर्व कुलपति, श्री हर्षवर्धन तिवारी ने कहा – ''स्वामीजी को विश्वमानव की अपेक्षा युगपुरुष कहना कहीं अधिक उपयुक्त होगा।''

२ जनवरी को आयोजित अन्तर्महाविद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता में **'भारत पर वैज्ञानिक प्रगति के बढ़ते कदम'** – विषय पर बोलते हुये प्रथम पुरस्कार विजेता हिमांशु जैन ने कहा – ''वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारत के कदम आगे बढ़ रहे हैं। इससे राष्ट्रपति अब्दुल कलाम जी का २०२० तक भारत को एक विकसित राष्ट्र बनाने का स्वप्न अवश्य पूरा होगा। इससे हजारों युवकों को रोजगार भी मिल रहा है।'' द्वितीय पुरस्कार विजेता अखिल श्रीवास्तव ने **'सफल जीवन की कुंजी आत्म-विश्वास'** विषय पर कहा –''बुद्ध, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी, विनोवा भावे आदि आज तक जितने भी महापुरुष हुए हैं, वे सभी आत्मविश्वासी थे। पर व्यक्ति को नेपोलियन और मुसोलिनी जैसा आत्मविश्वासी नहीं होना चाहिये।'' सौरभ तिवारी ने **'इंटरनेट और युवा-पीढ़ी'** विषय पर कहा – ''इंटरनेट एक अद्भुत शक्ति एवं विज्ञान का चमत्कार है, जिसका हम सदुपयोग कर सकते हैं।'' खिलेश्वर रक्सेल का विषय था - **'सभी धर्मों का सम्मान - भारत का राष्ट्रीय आदर्श'**। उन्होंने कहा – ''देश की आजादी में सभी धर्मों का योगदान था। इस मामले में भारत का पहले से ही उदारवादीवादी दृष्टिकोण रहा है।'' वाजीद शेख ने **'छत्तीसगढ़ की सूचना तकनीकी का उज्ज्वल भविष्य'** विषय पर कहा – ''यहाँ बड़ी तेजी से सूचना तकनीकी का विस्तार हो रहा है। इसी कारण गाँवों से लेकर शहरों तक मोबाइल, टी.वी., इंटरनेट आदि सुलभ हैं।'' कुमारी विनीता गोयनका **'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'** विषय पर बोली – ''महाभारत की द्रौपदी ने स्वयं की रक्षा के लिये कृष्ण को पुकारा था, लेकिन आधुनिक द्रौपदी यह जानती है कि कृष्ण नहीं आनेवाले हैं, इसलिये वह स्वयं अपने हाथों में तलवार लेकर अपनी रक्षा करती है। यह सब इच्छाशक्ति का ही परिणाम है।'' ताम्रध्वज बरिहा ने **'विद्या विनयेन शोभते'** विषय पर कहा – ''वह विद्या जो ज्ञान, विनय, यश, मानवता, दया, प्रेम, करुणा आदि की शिक्षा न दे, वह किसी काम की नहीं है। केवल लौकिक विद्या के बल पर विकास एवं समस्या का समाधान नहीं होता। लौकिक विद्या के साथ-साथ नैतिकता का, विद्या और विनय का सामंजस्य होना चाहिये। तभी सर्वश्रेष्ठ नागरिकता की सृष्टि होगी।'' कुमारी पूजा जैन ने **'औद्योगिक प्रदूषण'** विषय पर कहा – ''औद्योगिक प्रदूषण विश्व की सबसे बड़ी समस्या है। इसके कारण देश में विभिन्न बीमारियाँ फैलती जा रही हैं। रायपुर भारत का सर्वाधिक प्रदूषित शहर है। उद्योगपतियों को मानवता के प्रति उनके कर्तव्य-पालन हेतु प्रेरित करके इस समस्या का समाधान किया जा सकता है।'' सत्र की अध्यक्षता रविशंकर विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग के प्रो. डॉ. जे. एन. भारद्वाज ने की।

३ जनवरी को अन्तर्महाविद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता हुई। विषय था – **'इस सदन की राय में समाज में व्याप्त बुराई की समस्या का समाधान कानून से न होकर नैतिक बल से ही सम्भव है।'** शशांक शर्मा ने इसके पक्ष में कहा – ''नैतिक बल जड़ें और कानून पुष्प हैं। कानून और नैतिक बल दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं।'' कुमारी विनीता गोयनका ने पक्ष में कहा – ''यदि कानून से सामाजिक बुराइयों का समाधान होता तो आतंकवाद, भ्रष्टाचार आदि का अस्तित्व नहीं होता। यदि स्वामी विवेकानन्द

के नैतिक बल को अपनाया गया होता, तो आज सभी गाँधी, गोखले, तिलक और सुभाष जैसे होते।'' विकास साहू ने कहा – ''यदि कानून से कुछ होता तो गुजरात, कश्मीर आदि जैसे दंगे नहीं होते। उत्तम गुणों का विकास नैतिक बल से होता है। नैतिकता चोर को वाल्मीकि बना देती है। अरब में चोर का हाथ काटने का कानून है, लेकिन सबसे ज्यादा चोरी वहीं होती है। अतः नैतिक बल चाहिये।'' सौरभ तिवारी ने कहा – ''स्वार्थ सबसे बड़ी बुराई है। यश पाने की ललक बुराई है। कानून बुराई को दबा सकता है, अपराधी को सजा दे सकता है, लेकिन उसे नैतिकता का बोध नहीं करा सकता।'' खिलेश्वर रक्सेल ने कहा – ''लोभ, क्रोध, मोह ही सभी बुराइयों की जड़ हैं। कानून की इतनी पुस्तकें रहते हुये भी आज तक इनका समाधान नहीं हुआ। नैतिक बल से इन बुराइयों का विनाश होगा।'' ताम्रध्वज बरिहा ने कहा – ''कानून हमारी सामाजिक व्यवस्था है, यह केवल वकीलों और न्यायधीशों की भाषा मात्र नहीं है। भूखमरी, बेरोजगारी, गरीबी, अशिक्षा, अमेरिका का ईराक पर आक्रमण, आतंकवाद आदि समस्याओं का समाधान क्या नैतिकता से होगा?'' अखिल श्रीवास्तव ने विषय के पक्ष में कहा – ''कानून अन्धा होता है, लेकिन नैतिकता अन्धी नहीं होती। वाल्मीकि, अंगुलिमाल को कानून ने नहीं, अपितु नारद और बुद्ध ने नैतिकता का मार्ग बताया। गाँधी ने डायर के प्रति नैतिकता दिखाई। सम्राट् अशोक को एक बौद्ध भिक्षु नैतिकता के मार्ग पर लाया।'' विनोद दूबे ने कहा – ''राम ने रावण का वध किया। क्या वे नैतिकता नहीं जानते थे?'' अब्दुल फजल ने विपक्ष में कहा – ''अबू सलेम, लादेन, वीरप्पन आदि को बुद्ध और विवेकानन्द के नैतिक उपदेश क्यों नहीं सुनाते, जिससे वे आतंक करना छोड़ दें। हम केवल कानून के द्वारा ही इन पर विजय पा सकते हैं।'' सत्र की अध्यक्षता पं. रविशंकर विश्वविद्यालय की मनोविज्ञान विभाग की रीडर डॉ. मीता झा ने की।

४ जनवरी को अन्तर्विद्यालयीन वाद-विवाद प्रतियोगिता थी, जिसका विषय था – '**इस सदन की राय में जीवन में सफलता शारीरिक बल की अपेक्षा बुद्धि से अधिक सम्भव है।**' विषय के पक्ष में बोलते हुये अनिकेत झा ने कहा - ''बुद्धि ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है, नहीं तो वह पशु होता। मनुष्य-जीवन की सफलता बुद्धि के कारण ही है। आपके मरने के बाद भी लोग आपके विचारों-भावनाओं को समझें, यह बुद्धि से ही होगा। स्वामी विवेकानन्द जी बुद्धि के बल पर ही अमेरिका में इतने विख्यात हुये। गाँधी जी बुद्धि के बल पर ही राष्ट्रपिता कहलाये। श्रीराम का मातृ-पितृ-भक्ति का आदर्श बुद्धि के कारण ही है।'' कुमारी लक्ष्मी कांगे ने भी पक्ष में कहा – ''धार्मिक, भौतिक या आर्थिक उन्नति बिना बुद्धि के नहीं हो सकती। क्या सूर-तुलसी शारीरिक बल से बने थे? – **बुद्धिर्यस्य बलं तस्य**। भैंस बड़ी है, चींटी छोटी है, लेकिन हाथी को मार देती। डॉ. राधाकृष्णन, अब्राहम लिंकन आदि क्या बल से हुये थे? जीवन की सफलता के लिये बुद्धि-बल की ही आवश्यकता है।'' कुमारी दीपिका शर्मा ने पक्ष में कहा – ''विकलांग व्यक्ति भी बुद्धि से बहुत कुछ कर सकता है। बुद्धि से ही खरगोश ने शेर को मार डाला था, यह कहानी आज भी बुद्धि-बल की प्रेरणा देती है।'' कुमारी अंशुल क्षत्रे ने विपक्ष में बोलते हुये – 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' मुहावरे को उद्धृत किया और शारीरिक स्वास्थ्य को ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का मूल आधार बताया। कुमारी राजवीर बाहुला ने पक्ष में कहा – ''बुद्धि चाँद तक पहुँच सकती है। बुद्धि का कार्य कर्तव्य-अकर्तव्य, सत्य-असत्य का निर्धारण करना होता है। इसका विकास आत्मज्ञान से होता है। शारीरिक विकलांगता होने पर भी लोगों ने बहुत-सी खोज की। श्रीकृष्ण ने बुद्धि से ही मोहिनी का रूप धारण कर अमृत ले लिया था। यह पूरा सदन बुद्धि के बल पर ही यहाँ है, शारीरिक बल पर नहीं।'' कुमारी शिवना तिवारी ने विपक्ष में बहुत से उद्धरण प्रस्तुत करते हुये कहा – '**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**', '**स्वस्थ शरीर और निरोगी काया**'। स्वामी विवेकानन्द जी भी 'लौह की मांस-पेशियाँ तथा फौलाद के स्नायु' चाहते थे। शारीरिक शक्ति की बहुत जरूरत है, इसीलिये पूर्व प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी जी को उनके घुटने के ऑपरेशन के बाद उन्हें गद्दी छोड़ने की सलाह दी जा रही थी। मनमोहन सिंह क्यों अमेरिका से कमजोर पड़ते हैं? डार्विन का सिद्धान्त क्यों आज इतना विख्यात है। नाविक एवं पण्डित की कहानी भी शारीरिक-बल की ही शिक्षा देती है।'' कुमारी विकास तिवारी और रुचि वर्मा ने भी पक्ष में विचार प्रस्तुत किये। वर्मा ने कहा – ''बुद्धि के बल पर महात्मा गाँधी ने देश को अँग्रेजों से आजाद कराया। स्वामीजी ने त्याग-तपस्या के द्वारा देश को प्रेरित किया, जो बुद्धि के द्वारा ही था।'' कुमारी अंकुरिता शर्मा ने विपक्ष में कहा – ''जीवन में सफलता परिश्रम से ही मिलती है और शारीरिक बल के बिना सफलता सम्भव नहीं है। इंजीनीयर तभी सफल होगा, जब मजदूर अपना शारीरिक श्रम का बल लगायेंगे। बानरों ने पशु होकर भी रावण की सेना को हरा दिया।'' पार्थ झा और पूजा दूबे ने विपक्ष में महत्त्वपूर्ण विचार किये। कुमारी सोनल बोदेले ने पक्ष में कहा – ''बल का क्षेत्र सीमित और बुद्धि का क्षेत्र असीमित होता है। बुद्धि ही एक ऐसा बल है, जो शारीरिक बल पर विजय प्राप्त कर सकता है। पाँच पाण्डवों ने सौ कौरवों को हराकर इतिहास रच दिया।'' सत्र की अध्यक्षता श्री के. एन. बापट ने की।

५ जनवरी, गुरुवार को अन्तर्विद्यालयीन तात्कालिक भाषण प्रतियोगिता थी। कु. प्रतिभा सिंह ने '**मेरे प्रिय आदर्श महापुरुष**' विषय पर कहा – ''स्वामी विवेकानन्द ही मेरे प्रिय महापुरुष हैं। वे आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं, जितने कि १०० साल पहले थे। वे युवा-पीढ़ी के प्रेरणा-स्रोत हैं। क्षितिज तिवारी ने '**आदर्श शिक्षक**' विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुये कहा – ''आदर्श शिक्षक स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देते हैं। वे सर्वदा

अपने विद्यार्थियों की उन्नति के बारे में सोचते हैं। वे चाहते हैं कि उनका शिष्य देश और समाज के लिये शिक्षा का सदुपयोग करे।'' निहाल वर्मा का विषय था – **'खेल शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग है'**। उन्होंने ग्रामीण स्तर पर खेल के विकास हेतु व्यवस्था करने की अपील की, ताकि ग्रामीण बच्चे भी उसके द्वारा अपना व्यक्तित्व-विकास कर सकें। अनिकेत झा ने **'भारत की वैज्ञानिक प्रगति में बढ़ते कदम'** पर कहा – ''एक विकसित राष्ट्र बनने के लिये हमें इसकी बहुत आवश्यकता है। इसके उज्ज्वल दृष्टान्त हमारे राष्ट्रपति डॉ. अब्दुल कलाम जी हैं। प्यारे लाल ने – **'भारतीय जीवन पर पाश्चात्य का प्रभाव'** विषय पर कहा – ''कम्प्यूटर, टी.वी. पर ग्लैमर आदि पाश्चात्य प्रभाव हैं, जो हमारे जीवन को खोखले करते जा रहे हैं।'' विकास तिवारी का विषय **'वृक्ष लगाओ विश्व बचाओ'** था। उन्होंने सदन से निवेदन किया – ''वृक्ष के विना जीवन मुश्किल हो जायेगा। अतः हमें अधिक-से-अधिक वृक्ष लगाकर प्रदूषण को रोकना चाहिये। हम वृक्ष लगाने का संकल्प लें, ताकि प्रदूषित पर्यावरण से बच सकें। नहीं तो एक दिन आक्सीजन समाप्त हो जायेगा और पृथ्वी के सभी प्राणियों का विनाश हो जायेगा।'' मीना वन्दोर ने **'आत्म-विश्वास'** विषय पर कहा – ''आत्म-विश्वास के द्वारा व्यक्ति बड़ा-से-बड़ा काम कर सकता है और लक्ष्य-प्राप्ति कर सकता है। जीतने की कोशिश सभी लोग करते हैं, लेकिन जीतते वही हैं, जिनमें आत्मविश्वास होता है।'' सत्र की अध्यक्षता सुनील वर्मा, प्राचार्य छत्तीसगढ़ कॉलेज ने की।

६ जनवरी, शुक्रवार को अन्तर्विद्यालयीन विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता थी, जिसका विषय था – **स्वामी विवेकानन्द से मैंने क्या सीखा?** विषय का प्रतिपादन करते हुये अनिकेत झा ने कहा – ''स्वामीजी ने युवाशक्ति का बोध कराया। स्वामीजी ने हमें बहुमुखी विकास की शिक्षा दी। हम अपनी आवश्यकतानुसार उनसे सीख सकते हैं।'' कुमारी भावना ध्रुव ने कहा – ''भारत को विश्वगुरु के पद पर प्रतिष्ठित करने का गौरव-बोध स्वामीजी ने हमें सिखाया। शक्ति-उपासना, राष्ट्रीय एकता, आत्मविश्वास की शिक्षा स्वामीजी ने हमें दी।'' कुमारी लक्ष्मी कांगे ने कहा – ''स्वामीजी ने हमें सिखाया कि गरीबों की सेवा करो। त्याग ही जीवन और स्वार्थ ही मृत्यु एवं अभिशाप है।'' प्यारे लाल ने कहा – ''स्वामीजी मानवों में शब्द-शक्ति के संचारक थे। त्याग और सेवा के प्रेरक थे। मूर्ख और चाण्डाल सबमें आत्मविश्वास की प्रेरणा देने वाले थे। वे संगठन-शक्ति के प्रचारक, एक महान योद्धा एवं युवाओं के आदर्श हैं। उन्होंने मृत्यु-पर्यन्त कार्य करने की प्रेरणा दी।'' कुमारी वाणी डागा ने कहा – ''स्वामीजी ने हमें भारत और भारतवासियों से प्यार करना सिखाया और साहस आदि का पाठ पढ़ाया। अपने इन्हीं गुणों के कारण वे सिंह-पुरुष कहलाये।'' कुमारी पूजा दूबे ने स्वामीजी के महानतम गुणों का विवरण दिया एवं 'ज्योति से ज्योति जगाते चलो' तथा 'हम होंगे कामयाब' – गीतों को उद्धरण के रूप में प्रस्तुत किया। कुमारी अंकिता अग्रवाल और निहाल वर्मा ने कहा – ''स्वामीजी ने हमें मानवता की सेवा, शिक्षा का विकास, ग्रामीण शिक्षा, श्रम आदि करने की शिक्षा दी।'' पार्थ झा ने कहा – ''स्वामीजी का प्रत्येक उद्बोधन मेरे जीवन के लिये प्रेरक है। उन्होंने चरित्रवान बनने तथा विश्व-बन्धुत्व, आत्मविश्वास, इच्छाशक्ति का विकास करने की शिक्षा दी। भूखे, दीन-दुखी-दरिद्रों, रोगियों में भगवान को देखने से मानसिक शान्ति मिलती है – ऐसा पाठ पढ़ाया। स्वामीजी ने कहा कि विस्तार ही जीवन और संकुचन ही मृत्यु है। प्रेम ही जीवन और घृणा ही मृत्यु है। सत्र की अध्यक्षता श्री मुकुन्द हम्बर्डे ने की।

७ जनवरी, शनिवार को अन्तर्माध्यमिक शाला विवेकानन्द भाषण प्रतियोगिता थी, विषय था – **'मेरे आदर्श स्वामी विवेकानन्द'**। अलक्षेन्द्र मोंगरे ने कहा – ''स्वामीजी का स्वप्न था कि भारत एक महान देश बने। शिवांशु तिवारी ने कहा – ''स्वामी विवेकानन्द जैसे हमारे जीवन के प्रेरणास्रोत हैं, वैसे ही उन्होंने विश्व के अनेक लोगों को प्रेरित किया होगा।'' कमल-कान्त ने कहा – ''स्वामीजी ने सभी धर्मों का सम्मान करना सिखाया एवं निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है, यह मानदण्ड स्थापित किया।'' मोनिजा नुरेन ने कहा – ''स्वामीजी ने हमें अपने देश से प्यार करना सिखाया। यदि यहाँ के लोग सत्य-पवित्रता से रहें, तो कोई भी इस देश का बाल बाँका तक नहीं कर सकता।'' चंचल निषाद ने कहा – ''आज के विद्यार्थी एवं युवा-वर्ग के आदर्श स्वामी विवेकानन्द से बढ़कर दूसरा कोई नहीं हो सकता। स्वामीजी अमेरिका में अपने देशवासियों की दैन्य-दशा को याद कर नीचे जमीन पर लोट-लोटकर रोने लगे। उन्होंने सन्देश दिया कि भूखे एवं गरीबों की सेवा में अपना जीवन अर्पित कर दो। ऐसा अनूठा सन्देश देनेवाले स्वामीजी ही मेरे आदर्श हैं।'' कु. पूजा अग्रवाल ने कहा – ''स्वामीजी बचपन से ही प्रतिभाशाली एवं कर्मनिष्ठ थे। भारत को जगाना, गरीबों को शिक्षित करना, जन-साधारण की उन्नति करना उनका उद्देश्य था। स्वामीजी -

निराशा में आशा पैदा करेंगे,
लोगों में विश्वास पैदा करेंगे।
स्वामी विवेकानन्द के सन्देश
पत्थर में भी प्राण पैदा करेंगे॥

कुमारी आरांजा दूबे ने कहा – ''स्वामीजी ने हमें पुरुषार्थ एवं मनोबल का विकास करना सिखाया। उन्होंने कहा है कि यदि हमें भारत को आगे बढ़ाना है, तो अपने खोये हुये गौरव को वापस लाना होगा। स्वामीजी भारत को अपना जीवन, अपना प्राण, अपना झूला, अपना वैकुण्ठ मानते थे। ऐसा उस आदर्श-पुरुष का प्यार था।'' नागेन्द्र सिंह ध्रुव ने कहा – ''स्वामीजी ने अपनी सशक्त वाणी से देश की जनता में सर्व-धर्म-समन्वय तथा प्रेम, आत्म-विश्वास और शक्ति का प्रचार किया।'' कार्तिकेय मटोरे ने कहा – ''स्वामीजी ने आलस्य छोड़कर कठोर परिश्रम करने को कहा। प्रेम-भाईचारा, सभी प्राणियों को स्वयं के जैसे देखो -

आत्मवत् सर्वभूतेषु - का उपदेश दिया। भारत का राष्ट्रीय आदर्श त्याग और सेवा है। स्वामीजी ने भारत ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व को विश्वबन्धुत्व का सन्देश दिया।'' चन्द्रदेव ने कहा – ''स्वामीजी मेरे, आपके और प्रत्येक युवा केआदर्श हैं। एकता का शंखनाद करनेवाले स्वामीजी ने कहा कि विश्वास ही सफलता का मूलमंत्र है।'' सत्र की अध्यक्षता श्री बालचन्द्र कछवाहा जी ने की।

८ जनवरी, रविवार को अन्तर्माध्यमिक शाला वाद-विवाद प्रतियोगिता थी, जिसका विषय था – **'इस सदन की राय में शाला में विद्यार्थियों की प्रगति हेतु शारीरिक दण्ड की अपेक्षा स्नेहयुक्त व्यवहार अधिक लाभकारी है।'** विषय के पक्ष में कमलकान्त ने कहा – ''विद्यार्थी हमारे देश को विकसित राष्ट्र बनाने में एक अभिन्न अंग हैं। उन्हें ऐसे शिक्षक का संस्कार चाहिये, जिसमें गुरु अपनी विद्या को छात्र की उन्नति हेतु सम्पूर्णरूप से अपने छात्र में उतार सके।'' शुभम् तिवारी ने कहा – ''दण्ड तो बच्चों को उद्दण्ड बनाता है। गुरु और माता-पिता प्रेम से ही बच्चों को ज्ञान की शिक्षा दे सकते हैं। बच्चों की पिटाई को मानवाधिकार आयोग ने इसे अपराध घोषित किया है।'' आदित्य मोदी ने 'क्षमा बड़न को चाहिये' उद्धरण देते हुये कहा – ''बच्चों का मन कोमल होता है। कच्ची मिट्टी की तरह होता है। उनकी प्रगति के लिये उन्हें शिक्षा प्रेम से ही दी जा सकती है, शारीरिक दण्ड से नहीं।'' अनुभा उपाध्याय ने विपक्ष में कहा – ''उद्दण्डता को रोकने के लिये ही दण्ड का प्रावधान है, जिससे उनका सर्वांगीण विकास हो सके तथा उन्होंने राष्ट्रपति और पूर्व प्रधानमंत्री जी के जीवन के उदाहरण प्रस्तुत किये, 'अन्तर हाथ सँवार दे बाहर मारे चोट' का भी उल्लेख किया। कुमारी पल्लवी दूबे ने विपक्ष में कहा – ''शिक्षक ऐसा हो, जो विद्यार्थी के शरीर को कष्ट देता हुआ उसकी सोयी हुई आत्मा को जगा दे। विद्यार्थी के विकास हेतु उसको आग में तपाना ही होगा, उसमें चमक लाकर उसे मूल्यवान बनाना होगा।'' कुमारी आरांजा दूबे ने पक्ष में कहा – ''स्वामी सत्यरूपानन्द जी हमेशा मेरी चाची से कहते हैं कि बच्चों को प्यार करो। सचीन तेन्दुलकर को बचपन से प्रेम से सिखाया गया। ज्ञान सिर्फ किताबों से नहीं, अनुभव से ही होता है। विख्यात गायिका लता मंगेशकर को बचपन से ही उनकी माँ का स्नेह मिला। गाँधीजी, अब्दुल कलाम, विनोबा जी को माँ के प्रेम से ही शिक्षा मिली। जिन बच्चों को हम प्यार करते हैं, उनमें सकारात्मक सोच बढ़ती है।'' अलक्षेन्द्र मोंगरे ने कहा – ''विद्यार्थी को दंडित करने से उसका मनोबल टूटता है, प्रताड़ित करने से बच्चों का बौद्धिक विकास रुक जाता है। स्नेह करने से विद्यार्थी और शिक्षक में ताल-मेल बढ़ता है। देश के उज्ज्वल भविष्य के लिये बच्चों को स्नेह देना आवश्यक है।'' इस सत्र की अध्यक्षता श्री आर. जी. भावले ने की।

९ जनवरी, सोमवार को अन्तर्प्राथमिक पाठ-आवृत्ति प्रतियोगिता थी, जिसमें छोटे-छोटे बच्चों ने स्वामी विवेकानन्द साहित्य से स्वामीजी की ओजस्वी वाणी का पाठ करके सुनाया। महेन्द्र कुमार ने स्वामीजी का विख्यात राष्ट्रभक्ति का आदर्श का पाठ किया। मो. सैफ खान ने कहा – ''पहले रोटी फिर धर्म। गरीब भूखों मर रहे हैं और तुम उन्हें धर्म का उपदेश सुना रहे हो? तुम्हारी धर्म-चर्चा व्यर्थ है। गरीबों के दुख का अनुभव करो। उनकी सहायता करो। भगवान तुम्हारी सहायता करेंगे। कुमारी वैष्णवी काले ने कहा – ''वही नास्तिक है, जो अपने आप में विश्वास नहीं जगा सकता। अपना उद्धार स्वयं करो। धर्म का उद्देश्य सुखी करना है। जो धर्म भूखों को रोटी नहीं दे सकता और विधवाओं के आँसू नहीं पोंछ सकता,वह भी क्या कोई धर्म है।'' संयम जैन ने कहा – ''मेरे बालको, वीर बनो। ज्ञान-प्राप्ति का एक ही मार्ग है एकाग्रता की शक्ति का विकास करना।'' वरुण दूबे ने कहा – ''सत्य की हमेशा विजय होती है। साहसी बनो। गम्भीर-से-गम्भीर समस्याओं में भी अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रखो।'' शब्दार्थ दूबे ने कहा – ''हमें अपनी शक्ति पर विश्वास करना चाहिये।'' कुमारी रूपाला ने कहा – ''दूसरे के दोषों की चर्चा मत करो, चाहे तुम कितना ही गुणी क्यों न हो। इससे कभी भी किसी का उपकार नहीं होगा। सदैव प्रसन्न रहो। इससे मस्तिष्क में अच्छे विचार आते हैं।'' सुशान्त झा ने कहा - ''हमें संघ को दृढ़ बनाना होगा। आवश्यक है केवल प्रेम, निष्कपटता और त्याग की। प्रयत्न करते चलो। भयभीत होकर मत देखो। धीरज धरो।'' कुमारी तान्या शर्मा ने कहा – ''विश्वास, विश्वास, विश्वास। भयभीत मत होओ। निराश मत होओ। उठो, जागो और लक्ष्य की प्राप्ति तक रुको मत।'' उसके बाद तान्या शर्मा और समृद्धि शर्मा ने अवसर का लाभ उठाते हुये भगवान शिव का शास्त्रीय संगीत सुनाया। एक दूसरी बच्ची ने भी कीर्तन सुनाया। इस सत्र की अध्यक्षता श्री आर. पी. सुखीजा जी ने की।

११ जनवरी, मंगलवार को आश्रम-प्रांगण के विशाल पण्डाल में आयोजित एक विशेष कार्यक्रम में विजेता प्रतिभागियों को मुख्य अतिथि श्री सुविमल चटर्जी के कर-कमलों से पुरस्कार प्रदान किया गया। इस अवसर पर श्री चटर्जी ने युवकों को प्रेरित करने वाला ओजस्वी व्याख्यान भी दिया और आगन्तुकों को आश्रम के इतिहास से अवगत कराया। आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने कार्यक्रम के प्रारम्भ में आगन्तुकों को आश्रम की गतिविधियों की सविस्तार सूचना दी।

१२ से १६ जनवरी तक प्रतिदिन स्वामी राजेश्वरानन्द जी महाराज का श्रीराम-चरित-मानस के 'विभीषण-चरित' पर संगीतमय प्रवचन, १७ जनवरी को विवेकानन्द विद्यापीठ के बच्चों द्वारा 'श्रीराम-लीला-गीति' और १८ से २४ जनवरी तक आचार्य श्री किशोरजी व्यास का श्रीमद्भागवतम् के 'मुक्ति-स्कन्ध' से 'अवधूत-उपाख्यान' पर भक्तिपूर्ण प्रवचन हुये।

(विवरण प्रस्तुति - फूलचन्द कांगे तथा भरतचन्द्र देहारी)